गीता दर्शन की पृष्ठभूमि

सत्यदेव शास्त्री

प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

प्रकाशक :
साहित्य भवन लिमिटेड,
प्रयाग ।

प्रथम संस्करण
मूल्य १।)

मुद्रक :
श्री गिरिजा प्रसाद श्रीवास्तव,
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग ।
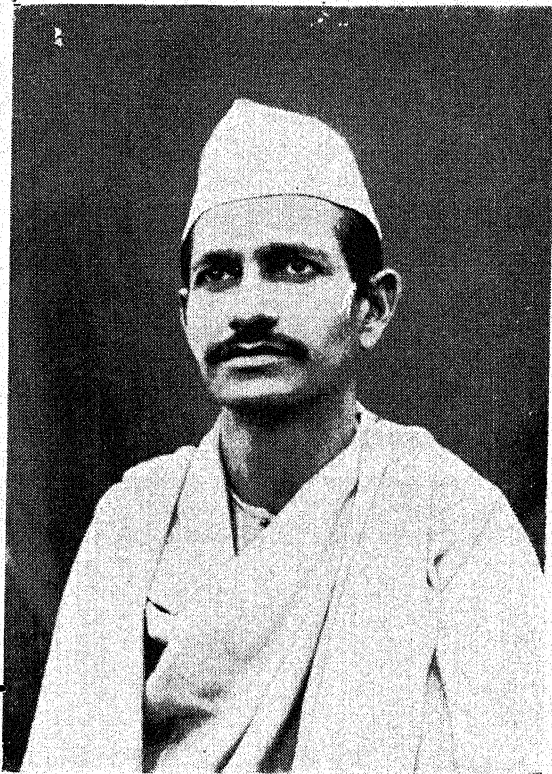
सत्यदेव शास्त्री

समर्पण

जिन भगवान कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में गीता का उपदेश कर अर्जुन के अज्ञानान्धकार को दूर कर समस्त मानव-जाति का मंगल मार्ग प्रशस्त किया उन्हीं को सभक्ति समर्पित।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्'।

प्रकाशकीय—

गीता हमारा धर्म-ग्रंथ है और हमारी संस्कृति का किन्हीं अंशों में मूलगत आधार भी है। आधुनिक-युग आधुनिक-युग है, किन्तु आज भी हमारे तिलक और महात्मा गांधी गीता से कितनी दूर जा सके हैं ?

× × ×

प्रस्तुत ग्रंथ गीता के दर्शन की विचारपूर्ण व्याख्या तो करता ही है, उसके कई पहलुओं पर कई दृष्टिकोणों से विचार भी करता है। मेरी समझ से तो इस पुस्तक में गीता के सर्वकालीन किंतु प्राचीन सिद्धान्तों को आधुनिकता के 'पैटर्न' में 'फ़िट' करने का सफल और प्रशंसनीय प्रयास किया गया है।

अब पाठक अलौकिक सिद्धान्तों के लौकिक रूपों पर विचार करें और अपना निर्णय दें—

पुरुषोत्तम दास टंडन

मंत्री,

साहित्य भवन लि०, प्रयाग

प्रस्तावना

श्री सत्यदेव जी ने १९२२ से १९२६ तक काशी विद्यापीठ में समाज शास्त्र का अध्ययन किया और शास्त्री की उपाधि पाई। इसके बाद गुरुकुल काँगड़ी, साबरमती आश्रम तथा वर्धा आश्रम में अध्यापन कार्य करते रहे। फिर काशी विद्यापीठ में १९३८-१९३९ में एक वर्ष तक इतिहास और समाज शास्त्र के अध्यापक रहे। इसके बाद पुनः काँग्रेस के काम में लगे और १९४२ से १९४४ तक जेल में रहे। अब वहाँ से छूटकर पुनः काँग्रेस-कार्य में लग गए हैं और लोक-सेवक-मंडल के सदस्य हो गए हैं। सार्वजनिक कार्य करने के लिए गीता के उपदेशों का अनासक्तियोग के विषय में जो अंश है, उसका मनन करना ऐसे कार्यकर्त्ताओं के लिए बहुत उपयोगी है। इसलिए सत्यदेव जी ने भी इस पर परिश्रम किया और जो विचार उनके मन में आये उनको ऐसे कार्यकर्त्ताओं के उपयोग के लिए लिख दिया है। गीता का जो नितान्त उपयोगी और आवश्यक अंश चातुर्वर्ण्य के विषय में है, अर्थात् स्वभाव से, गुण से, कर्म से धर्म होता है, जन्म से वर्ण नहीं होता है, इस अंश पर ध्यान प्रायः प्राचीन भाष्य और टीका बनानेवालों ने नहीं किया है; यद्यपि कर्मणा के स्थान पर जन्मना का सिद्धान्त चल पड़ने से ही हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज की वर्तमान दुर्दशा उत्पन्न हुई है। सत्यदेव जी ने मेरे ग्रन्थ देखे हैं, मेरे विचारों से परिचित भी हैं और सहमत भी हैं। तदनुसार, इस आवश्यक विषय पर भी इन्होंने इस ग्रन्थ में कुछ लिखा है, यदि और विस्तार से लिखते तो अच्छा होता। मैंने स्थाली-पुलक न्याय से, कुछ-कुछ अंश इन्हीं से पढ़वा कर सुने हैं। इन्होंने परिश्रम अच्छा ही किया है। यों तो गीता की टीकाओं, व्याख्याओं, अनुवादों की संख्या स्यात् सहस्र से ऊपर होगी और कोई नई बात सिवा चातुर्वर्ण्य के मूल सिद्धान्त के

विषय के, कहना कठिन है। पढ़े-लिखे, कुछ भी संस्कृत जानते हुए हिन्दू के लिए तो गीता बुद्धि की व्यायाम भूमि है—उस पर जितना ही परिश्रम किया जाय उतना ही अच्छा है—पर कुछ लोग इसको नितान्त कर्म त्याग का और संन्यास धर्म का उपदेश कहते हैं; कुछ लोग नितान्त अनासक्त कर्मयोग का; यह दोनों पक्ष आत्यंतिक जान पड़ते हैं। गीता में, "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा सात्विकी मता" ऐसा कहा है। इसमें यद्यपि चतुराश्रम का वर्णन स्पष्ट शब्दों में नहीं किया है तो भी सूचना की है कि (मनु के शब्दों में) अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों के, अर्थात् चारों पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए, चारों आश्रमों के उचित धर्म अपने-अपने समय में पालना चाहिए—गृहस्थाश्रम में सकाम कर्म के लिए भी स्थान है।

मैं आशा करता हूँ कि सत्यदेव जी ने इन सिद्धान्तों को ग्रन्थ में दिखाया होगा।

शान्ति सदन, सिगरा
काशी
भाद्र शुक्ल ७ सं० २००२, १४ सितम्बर १९४५ } (डा०) भगवानदास

प्राक्कथन

९ अगस्त १९४२ को श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तम दास टंडन के साथ इलाहाबाद में गिरफ्तार होकर नैनी सेंट्रल जेल में बन्द हुआ और कुत्ता बैरक नं० ३ में सर्वश्री पुरुषोत्तम दास टंडन, कैलाशनाथ काटजू तथा रणजीत सीताराम पंडित के साथ रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। नित्य ज्ञानेश्वरी का पाठ १ घण्टे तक चलता था। मैं पढ़ता जाता था और आदरणीय नेता गण सुनते थे। बीच-बीच में शंका-समाधान भी होता रहता। यह क्रम एक मास से ऊपर चला। गीता का मैं बचपन से ही अभ्यासी रहा हूँ। १९३० ई० में सुल्तानपुर जेल में मैंने गीता इसीलिए कण्ठ किया था कि आगे जाकर इसका गंभीर अध्ययन करूँगा। जेल में ही श्री शंकराचार्य की टीका देखी थी। लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य का जीवन में कई बार परायण हुआ। अन्य आचार्यों की टीकाएँ भी देखीं। जेल में गीता पर प्रवचन करने के लिए मुझसे कहा गया। बस मैंने अपने प्रवचन का विषय लिखना प्रारंभ किया और यह एक छोटी-सी पुस्तिका तैय्यार हो गई। सरकिल नं० १ में गीता जयन्ती मनाई गई। प्रायः सरकिल नं० १ के सभी प्रमुख राजबन्दी उपस्थित थे। गीता पर मेरा प्रवचन हुआ। मित्रों को वह प्रवचन जँचा और मेरा उत्साह बढ़ा। मैं अपने प्रिय बन्धु पं० कमलापति त्रिपाठी का हृदय से आभार मानता हूँ जिनकी अप्रत्यक्ष प्रेरणा से मैंने क़लम उठाई। मैं लिखने में आलसी और कच्चा रहा हूँ। लेखन-कला से सर्वथा अनभिज्ञ सरल भाषा में मैंने लिखने का प्रयत्न किया है। मौलिकता का दावा नहीं कर सकता। मैंने भगवान तिलक के कर्मयोग-मार्ग का ही अनुसरण किया है। यदि यह पुस्तिका पाठकों को जँची तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

पंडितप्रवर श्रद्धेय डा० भगवानदास जी ने इस पुस्तिका के अंश जहाँ-तहाँ से मुझसे ही पढ़वाकर सुने और इसकी भूमिका लिख दी। इसके लिए मैं डाक्टर साहब (बाबू जी) का हृदय से आभारी हूँ।

—लेखक

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

गीता का वाह्यरूप

गीता महाभारत का एक भाग है। संस्कृत साहित्य में दो उत्कृष्ट महाकाव्य हैं (१) रामायण (२) महाभारत। दोनों इतिहास ही नहीं; बल्कि ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। महाभारत तो इतिहास, राजनीति, अर्थनीति, आचारशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र का एक विश्वकोष है।

कौरवों और पांडवों की कथा लोक-प्रसिद्ध है। कौरव पांडव चचेरे भाई थे। कौरवों ने पांडवों को नाना प्रकार के कष्ट दिए। जुए में हराया। दुर्योधन ने द्रौपदी को जिसमें भीष्म जैसे महापुरुष मौजूद थे अपमानित किया। पांडवों को तेरह वर्ष वनवास का कष्ट भोगना पड़ा। वनवास की अवधि समाप्त होने पर पांडव स्वदेश लौटे। पांडव वास्तव में न्यायतः राज्य के हक़दार थे; किन्तु अंत में उन्होंने झगड़ा बराने के लिए सिर्फ़ पांच गाँव की माँग की। श्रीकृष्ण जी संधि-प्रस्ताव लेकर धृतराष्ट्र और दुर्योधन के पास पहुँचे। उन्होंने दुर्योधन को बहुत ऊँचा नीचा समझाया। किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ और उसने ललकार कर कहा कि 'सूच्याग्रे न दास्यामि विना युद्ध न केशव'। हे केशव! बिना युद्ध के मैं सुई की नोक बराबर ज़मीन नहीं दे सकता। श्रीकृष्ण के संधि-प्रस्ताव को दुर्योधन ने ठुकरा दिया और श्रीकृष्ण वापिस लौट आए।

अब पांडवों के सामने यह प्रश्न खड़ा हुआ कि आगे क्या हो। उनके सामने दो रास्ते थे। (१) अपना हक़ छोड़कर संन्यासी बन भिक्षावृत्ति से अपना जीवन बिताना (२) कौरवों से लड़कर अपना जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त करना। वर्णाश्रम धर्म के मुताबिक क्षत्रियों का धर्मशास्त्रों ने युद्ध करना बतलाया है। दूसरे पांडवों के आत्म-सम्मान का भी यह तकाज़ा था कि वह दुर्योधन की चुनौती का जवाब लड़ाई के मैदान में दे। फिर क्या था, दोनों

ओर से जंग का एलान (Declaration of war) हो गया। दोनों ओर की चतुरंगिणी सेनाएँ कुरुक्षेत्र की भूमि में आकर आमने-सामने डट गईं। दोनों ओर से व्यूह-रचनायें हुईं। आर्यावर्त्त के एक छोर से दूसरे छोर तक के राजा और जातियाँ इस लड़ाई में एक पक्ष या दूसरे पक्ष की ओर से लड़ीं। महाभारत में जो वृत्तान्त हम पढ़ते या सुनते हैं उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि यह घरेलू आग किस प्रकार समूचे भारत में फैल गई और भिन्न भिन्न राजाओं और जातियों ने क्योंकर एक पक्ष या दूसरा पक्ष ग्रहण किया। पांडवों की ओर से पंचाल, मत्स्य, चेदि, कारूष, मगध, काशी-कोशल और गुजरात के यादव थे, और कौरवों की तरफ़ समस्त पूरब, समस्त पच्छिम, पच्छिमी भारत में से माहिष्मती, अवन्ति और शाल्व के राजा तथा मध्यदेश में से भी शूरसेन वत्स और कोशल के राजा थे। एक प्रकार से मध्यदेश और गुजरात पांडवों की ओर था और पूरब विहार, बंगाल, उड़ीसा, उत्तर पच्छिम (पंजाब) तथा पच्छिमी विन्ध्य (मालवा) कौरवों की तरफ़। दुर्योधन की ओर से भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा आदि महारथी थे और पांडवों की ओर से भीम, अर्जुन, द्रुपद, विराट आदि महारथी थे।

भगवान कृष्ण अर्जुन के सारथी बने थे। अस्त्र नहीं उठाने की प्रतिज्ञा थी। वास्तव में महाभारत के वे ही नायक थे वास्तविक संचालक थे-सूत्रधार थे। अर्जुन ने भगवान कृष्ण से कहा कि दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ ले चलिए जिससे मैं यह देख सकूँ कि मेरे साथ लड़ने के लिए कौन कौन से लोग आए हैं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ दोनों सेनाओं के बीच में लाकर खड़ा कर दिया जहाँ से अर्जुन शत्रु-पक्ष के लोगों को भली भाँति देख सके। वहाँ पर इकट्ठे हुए लोगों में सब अपने ही बड़े बूढ़े, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, भतीजे, दोस्त, ससुर और स्नेही दोनों सेनाओं में हैं। यह देख कर कि वे सभी अपने ही बान्धव हैं और उन्हीं से हमें लड़ना होगा—अर्जुन का दिल कातर भाव से भर गया और खिन्न मन होकर वह श्रीकृष्ण से कहने लगा कि "इन स्वजनों को देखकर मेरा शरीर शिथिल हो रहा है, मुँह सूख रहा है, रोयें खड़े हो रहे हैं। गांडीव हाथ से सरक रहा है,

त्वचा जल रही है और मैं खड़ा होने में असमर्थ हो रहा हूँ। मेरा मन चक्कर-सा खा रहा है।"

अर्जुन का मन मोह से ग्रसित हो गया है। वह युद्ध करने में श्रेय नहीं देखता। अपने गुरुजनों, बन्धु, बान्धवों में जो ममता की डोरी है उसी में उसका मन बँध गया है। अब वह तर्क करता है कि त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी मैं आचार्य, मामा आदि सम्बन्धियों को नहीं मारूँगा। भूमि के लिए लड़ने की बात कौन चलाये। इन्हें मार कर मैं पाप का भागी ही बनूँगा। स्वजनों को मार कर मैं सुखी कैसे होऊँगा। वह आगे कहता है कि इस युद्ध में कुल-क्षय हो जायगा। कुल-क्षय से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जायगा। कुल-धर्म के नष्ट हो जाने से नरक में वास करना होगा। यदि शस्त्रधारी कौरव मुझ निःशस्त्र को लड़ाई में मार डालें तो भी कल्याण ही होगा, ऐसा कहकर, व्यथित चित्त हो रथ में अपनी जगह पर बैठ गया। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गया। क्या करना, क्या नहीं करना—यह कुछ निश्चय नहीं कर सका। धर्म-युद्ध की ऐसी विकट परिस्थिति में जब कि अर्जुन जैसा महारथी जिस पर पाण्डवों के लिए युद्ध का सारा दारोमदार है, शोकाकुल हो रहा है, महामोह से ग्रसित होकर अपने क्षात्रधर्म से विचलित हो रहा है, जब कि उसके सामने अन्धकार ही अन्धकार दीख पड़ता है, प्रकाश-पुञ्ज भगवान कृष्ण गुरु रूप में अर्जुन के सामने आते हैं और योगस्थ होकर ज्ञान की किरणों से उसका मोहान्धकार दूर करते हैं।

भगवान् कहते हैं :—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
क्लैव्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

इस विषम परिस्थिति में तुम्हारे अन्दर यह मोह कहाँ से आ गया जो सर्वथा अनार्य है, अयोग्य है, नरक में ले जाने वाला और अयश फैलाने वाला है, हे पार्थ! तू ऐसा नामर्द मत हो, यह तुझे शोभा नहीं देता अरे

शत्रुओं को ताप देने वाले ! अन्तःकरण की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर खड़ा हो।

अर्जुन के अज्ञानान्धकार को दूर करने, ज्ञानरश्मियों से उसके मस्तिष्क को प्रकाशित करने, उत्साह पूर्वक धर्म युद्ध के लिए उसे तैय्यार करने के लिए योगयुक्त अन्तःकरण से ज्ञान विज्ञान युक्त चिरन्तन सत्य को प्रकट करने वाली जो अमरवाणी श्रीकृष्ण के मुख से निकली वही गीता का गान है।

काव्य, कथा, पुराण, उपनिषदादि संवाद पद्धति पर रचे गये हैं। किसी घटना या स्थान के वर्णन करने के लिए अथवा किसी प्रश्न की चर्चा करने तथा किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन करने के लिए हमारे देश के कवियों ने सामान्यतः संवाद पद्धति (Dilogue) का आश्रय लिया है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए संवाद पद्धति का आश्रय लिया था। गीता की भी रचना इसी संवाद पद्धतिं पर अर्जुन और कृष्ण के संवाद के रूप में हुई है। साधारणतया यह सवाल उठाया जा सकता है कि क्या युद्ध के मैदान में कृष्णार्जुन संवाद उसी रूप में हुआ जैसा गीता में प्रकट किया गया है ? वास्तव में यह बात संभव नहीं मालूम देती कि लड़ाई के मैदान में इतने विस्तार से सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त आदि शास्त्रों के मन्तव्यों को बतलाया गया हो। हाँ, यह सर्वथा संभव हो सकता है कि अर्जुन की मानसिक स्थिति को देखते हुए उसे अपने कर्त्तव्य का बोध कराने के लिए तेजस्वी और प्रभावशाली वाणी में उसे उपदेश किया गया हो। किन्तु सांख्य, योग, वेदान्त, क्षराक्षर विवेक, विराट-दर्शन आदि वर्णन काव्य को सजाने के लिए किया गया मालूम पड़ता है। यह भी संभव हो सकता है कि महाभारत युद्ध के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए कवि ने श्रीकृष्णार्जुन संवाद के रूप में अपना मन्तव्य प्रकट किया हो। श्रीकृष्ण और अर्जुन महाभारत के दो मुख्य पात्र हैं। अतएव यदि कवि ने श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच संवाद की योजना कर अपने सिद्धान्त का निरूपण किया हो तो यह कोई अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

संस्कृत साहित्य किंवा विश्व के साहित्य में गीता अतिशय लोकप्रिय ग्रन्थ है। भारत की प्रायः संपूर्ण भाषाओं में और यूरोप की मुख्य भाषाओं-अंग्रेज़ी, लेटिन, फ्रेंच, जर्मन में इसका अनुवाद हो चुका है। विलियम फ्रान हम बोल्ट Wiliam Von Hum boldt के मतानुसारः— 'Gita is the most beautiful perhaps the only true philosophical song existing in any known longuage." गीता सबसे सुन्दर संभवतः एक मात्र दार्शनिक गीत दुनिया की जानी हुई ज़बान में है। गीता आध्यात्मिक जगत में चमकता हुआ वह तेज पुञ्ज सूर्य है जिसका प्रकाश आज २५०० वर्ष से मानव अन्तःकरण को प्रकाशित करता हुआ चला आ रहा है और अनन्त काल तक शान्ति और ज्ञान के जिज्ञासुओं की आध्यात्मिक प्यास को बुझाता रहेगा। यह पुरातन होते हुए नित्य नवीन है। वैदिक धर्म का सार तत्त्व इसमें भर दिया गया है।

गीताध्याय में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया हैः—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थोवत्स सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।

सब उपनिषदें गाय हैं। दूध दूहने वाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं। अर्जुन बछड़ा है और जो दूध दूहा गया है वही गीतामृत है।

इस ग्रन्थ में उपनिषदों का सार आ गया है। इसीसे इसका पूरा नाम श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद है। इसमें ७०० श्लोक हैं। इसके सिवा अवधूत-गीता, अष्टावक्रगीता, ईश्वरगीता, उत्तरगीता, कपिलगीता, गणेशगीता, देवगीता, पाण्डवगीता, ब्रह्मगीता, शिवगीता, सूतगीता, भिक्षुगीता, यम-गीता, व्यासगीता, सूर्यगीता आदि अनेक गीतायें हैं। ये सब गीतायें भगव-द्गीता के बाद बनीं। गीता की लोक-प्रियता को देख कर गीता के नाम पर इन ग्रन्थों की रचना हुई—इसमें कोई सन्देह नहीं। इनकी रचना से गीता की श्रेष्ठता और सर्वप्रियता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

गीता की सर्वप्रियता का दूसरा कारण यह है कि गीता के द्वारा सरल, सरस प्रासादिक और मधुर भाषा में आध्यात्मिक जीवन के गूढ़ से गूढ़

सिद्धान्तों को स्पष्टता के साथ प्रकट किया गया है। गीता की लोक-प्रियता का तीसरा कारण यह है कि यह ग्रन्थ विभिन्न दार्शनिक मतों का आलोचक नहीं; बल्कि समन्वयवादी है। उस समय के प्रचलित सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त तथा उपनिषद के मतों एवं सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का यत्न गीता द्वारा किया गया है। यह विश्लेषणात्मक (Analytical) नहीं, समन्वयात्मक (Synthetical) है।

चौथे, गीता का संदेश और उसकी शिक्षा सर्वकालीन और सार्वदेशिक है। सांप्रदायिक नहीं। मानव जीवन सतत संघर्ष का जीवन है। गीता-जीवन में विजय-लाभ का नुसख़ा प्रस्तुत करती है। गीता की शिक्षायें वह तेज और प्रकाश है जिसकी रोशनी में मानव अपने जीवन की गुत्थियों को सुलझा सकता है।

गीता पर शंकर, रामानुज, माध्वाचार्य, निम्बकाचार्य आदि आचार्यों ने टीकाएँ रची हैं। प्रायः सभी आचार्यों ने गीता पर भाष्य लिख कर अपने अपने सांप्रदायिक सिद्धान्तों एवं मतों की पुष्टि की है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि इन आचार्यों के पूर्व गीता अतिशय लोकप्रिय, पवित्र एवं प्रमाण-भूत ग्रन्थ माना जाता रहा होगा।

गीता काल

महाभारत और गीता के रचयिता एक ही हैं, इसलिए उनका काल भी एक ही होना चाहिए। वैदिक काल का अवसान ई० पू० ७०० या इससे भी पूर्व है। ई० पू० ६०० से लेकर ई० पू० २०० तक सूत्र शैली पर सूत्र ग्रंथों की रचना हुई। "सूत्रों के समय के आस पास ही रामायण और महाभारत काव्यों की रचना हुई"।

महाभारत की मुख्य कथा का बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। शाम्बव्य और आश्वलायन गृह्यसूत्रों में भारत एवं महाभारत ग्रन्थ का उल्लेख है। पर महाभारत कथा ने वर्तमान रूप ई० पूर्व ४००-२०० में ग्रहण किया। ई० पू०२००—ई० १००-२०० में और बहुत से कथानक जोड़े गए

और धर्म के उपदेश मिलाए गए जिनके आधार पर महाभारत पंचम वेद, धर्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र और अर्थशास्त्र भी कहलाया। भारतीय इतिहास में समाजशास्त्र का यह अनुपम ग्रन्थ माना जाता है।

१८ पर्वों का महाभारत संवत् ५३५ और ६३५ के दरमियान जावा और बाली द्वीपों में था और वहाँ की प्राचीन कवि भाषा में उसका अनुवाद हुआ है। इस अनुवाद के ८ पर्व आज भी उन द्वीपों में मौजूद हैं और बीच बीच में मूल श्लोक भी जोड़ दिए गए हैं। इससे सिद्ध होता है कि लक्ष श्लोकात्मक महाभारत सं० ५३५ के पहले लगभग २०० वर्ष तक हिन्दुस्तान में प्रमाणभूत माना जाता था।

गुप्त राजाओं के समय का एक शिलालेख हाल में मिला है जो चेदि सं० १६७ अर्थात् विक्रमी संवत् ५०२ में लिखा गया था। उसमें इस बात का साफ़ निर्देश किया गया है कि महाभारत ग्रन्थ एक लाख श्लोकों का था। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि विक्रमी सं० ५०२ के लगभग २०० वर्ष पहले उसका अस्तित्व अवश्य रहा होगा। तैलंग गीता का समय ३०० ई० पू० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ४०० ई० पू० और गार्बी मूल गीता का समय २०० ई० पू० मानते हैं।

प्राचीन भारत ने वैदिक ऋषियों के उर्वर मस्तिष्क से प्रसूत तत्त्वज्ञान और दर्शन के द्वारा मानव जाति की बड़ी सेवा की है। मानव समाज को सच्चे सुख और शान्ति का रास्ता दिखलाया है। यह भारत की अपनी देन है। दार्शनिक क्षेत्र में भारत अपनी सानी नहीं रखता। तत्त्वज्ञान की जो विभिन्न धारायें बह रही थीं वह चार्वाक, जैन, बौद्ध और भागवत धर्म के अलावा छ दर्शनों—न्याय, वैशेषिक, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा या वेदान्त और सांख्य। दर्शन की विभिन्न विचार धारायें बहकर गीता गंगा में आकर मिली हैं। सांख्य, योग, मीमांसा के सिद्धान्तों और मतों का बड़ी कुशलता के साथ गीता में समन्वय किया गया है।

गीता और उपनिषद

गीता की दार्शनिक पृष्ठभूमि (Back ground) उपनिषद से ली गई है। उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मतत्त्व ही गीता का हृदय है। गीता में वर्णित द्वितीय अध्याय में आत्मा का 'अशोचत्व'

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानु शोचन्ति पंडिताः॥

आठवें अध्याय का अक्षरब्रह्म स्वरूप और तेरहवें अध्याय का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार तथा विशेषकर परब्रह्म का स्वरूप इन सब विषयों का वर्णन गीता में उपनिषदों की तरह अक्षरशः किया गया है। गीता में :—

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
यं यं वापि स्मरन भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैव कौंतेय सदा तद्भाव मागतः

इत्यादि विचार छान्दोग्य उपनिषद से लिए गए हैं। ज्योतिषां ज्योतिः और मात्रा स्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्ण सुखदुःखदाः। विचार बृहदारण्यक उपनिषद से लिए गए हैं। गीता के दूसरे अध्याय का आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन माश्चर्य्य वद्वदति तथैवचान्यः। कठोपनिषद की द्वितीय वल्ली के आश्चर्यो वक्ता कुशलेस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः से लिया गया है। गीता के द्वितीय अध्याय का यह श्लोक—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा, भविता वान भूयः।
अजो नित्यं शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

श्लोक कुछ शब्दों के हेर फेर से कठोपनिषद में वैसा का वैसा दिया हुआ है। गीता के ८वें अध्याय का ११वाँ श्लोक—

यदक्षरो वेद विदो वदन्ति विशन्ति यद्यत्तयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

कठोपनिषद की वल्ली के १५वें श्लोक से लिया गया है। इन्द्रियाणि

पराण्याहुः। सर्वतः पाणिपादं। अणोरणीयां समहतोमहीयान्। और आदित्य वर्णा तमसः परस्तात्। गीता और श्वेताश्वेतर उपनिषद में एक ही जैसा है। उपनिषदों में जो देवों की उपासना है उसी का गीता में विकास हुआ है। निष्काम कर्म ईश उपनिषद में वर्णित है। गीता और उपनिषद का संबन्ध चोली और दामन का सम्बन्ध है। जैसा कि गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में कहा है:—ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे।

गीता और सांख्य का संबन्ध

१० वें अध्याय में भगवान स्वयं कहते हैं:—

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलोमुनिः।

अर्थात् सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ। सांख्यशास्त्र के रचयिता कपिल मुनि हैं। गीता ने कपिल मुनि के महत्त्व को स्वीकार किया है। सांख्य का मनोविज्ञान और सृष्टिक्रम गीता को मान्य है। सांख्य अनीश्वरवादी है। ईश्वर के प्रश्न को टालना चाहता है और गीता ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना करना चाहती है। गीता में भगवान स्वयं कहते हैं:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानिमायया॥

हे अर्जुन! शरीर रूप यन्त्र में आरूढ़ हुए, संपूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी ईश्वर अपनी माया से भ्रमाता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित रहता है। ऐसे ईश्वर की उपासना का आदेश गीता में दिया गया है।

तमेवशरणंगच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम्॥

इसलिए हे भारत! सब प्रकार से उसी के शरण में जा उसी की कृपा से चरम शान्ति और सनातन परम धाम को प्राप्त होगा।

सांख्य शास्त्र इस जगत में दो मूल-तत्त्व स्वीकार करता है (१) पुरुष (२) प्रकृति। सांख्य के मत में पुरुष द्रष्टा है, साक्षी है, निर्विकार और निर्गुण

है। पुरुष चेतन और प्रकृति जड़ है। प्रकृति त्रिगुणात्मक और पुरुष निर्गुण है। इस प्रकार इस सृष्टि में दो भिन्न तत्त्व अनादि सिद्ध, स्वतन्त्र और स्वयंभू हैं। सांख्य शास्त्र के मतानुसार सृष्टि के सब पदार्थों के तीन वर्ग होते हैं। (१) अव्यक्त (२) व्यक्त (३) पुरुष। सांख्यवादियों को द्वैतवादी कहा जाता है। वे प्रकृति और पुरुष के परे ईश्वर, काल, स्वभाव या अन्य किसी भी मूल तत्त्व को नहीं मानते। उनका कहना है कि निर्गुण पुरुष कुछ नहीं कर सकता। जब उसका प्रकृति के साथ संयोग होता है तो लोह चुम्बक के समान अव्यक्त प्रकृति पुरुष के सामने अपना फैलाव करती है। पुरुष और प्रकृति की अन्धे और लँगड़े की जोड़ी है। जब तक पुरुष वृथाभिमान के कारण प्रकृति के कर्तृत्व को स्वयं अपना कर्तृत्व मानता रहता है और जब तक वह सुख दुःख के काल में अपने को फंसा रखता है तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती किन्तु जिस समय पुरुष को यह भान हो जाय कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ उस समय वह मुक्त ही है। बुद्धि के सात्विक हो जाने पर पुरुष निर्मल दर्पण के समान अपना रूप देखने लगता है।

सांख्य के मत में पुरुष असंख्य है। पुरुष के संयोग से उसमें कर्तृत्व का भान होता है; किन्तु जब उसे यह बोध हो जाता है कि ये सब खेल प्रकृति के हैं। मैं असंग और अकर्ता हूं तब वह मुक्त हो जाता है। उसे कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है। कपिलाचार्य के मतानुसार धर्म से केवल ऐश्वर्य और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। गीता में प्रकृति पुरुष और त्रिगुणात्मक इत्यादि सांख्य वादियों के पारिभाषिक शब्दों का उपयोग कुछ भिन्न अर्थ में किया गया है या यों कहिये कि गीता में सांख्यवादियों के द्वैत पर वेदान्त के अद्वैत की छाप सर्वत्र पड़ी हुई दीख पड़ती है। गीता प्रकृति, उसके तीनगुण और २४ तत्त्वों को स्वीकार करती है, प्रकृति पर सब कार्यों का मढ़ा जाना और पुरुष का अकर्ता होना भी गीता को मंजूर है। अहंकार और बुद्धि की भेदभाव करने वाली क्रिया कलाप और प्रकृति के गुण कर्म को पार करना ही मोक्ष का साधन है इसे भी गीता स्वीकार करती है।

पहला जो यहाँ नया सिद्धान्त मिलता है वह स्वयं पुरुष के संबंध में है। प्रकृति कर्म का संचालन करती है पुरुष के आनन्द के लिए। सांख्य के अनुसार पुरुष साक्षी है। द्रष्टा है। अनुमंता है। गीतोक्त पुरुष प्रकृति का स्वामी है। मान्डूक्योपनिषंद में ईश्वर और जीव की बड़ी ही मनोहारिणी उपमा एक ही वृक्ष पर रहने वाले उन दो पक्षियों से दी गई है जिनमें एक पिप्पल का मधुर फल खाता है और दूसरा केवलद्रष्टा भाव से रहता हुआ प्रकाशित होता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽ
नीशया शोचति मुह्यमानः
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश मस्य
महिमानमिति वीत शोकः॥

दो सुन्दर पंखवाले पक्षी सखा रूप से एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं। उनमें एक पिप्पल के फल को खाता है और दूसरा फल नहीं खाता हुआ भी दृष्टाभाव में स्थिति रहने से सदा प्रफुल्ल और प्रकाशित रहता है। इन दो पक्षियों की उपमा उन दो पुरुषों से दी गई है जिनमें (१) प्रकृतिस्थ पुरुष है (२) निश्चल, नीरव मुक्त रूप है। गीता तीन पुरुष मानती है। (१) क्षर (२) अक्षर (३) पुरुषोत्तम। उत्तम पुरुष परमेश्वर, परमात्मा है जिसमें अक्षर का एकत्व और क्षर का बहुत्व (नानात्व) दोनों शामिल हैं और यही उत्तम पुरुष भक्तियोग का आधार है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। अध्याय १५, १६वाँ श्लोक
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
यो लोक त्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ,, ,, १७

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः

अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ अध्याय १५ १८वाँ श्लोक

भगवान कहते हैं कि :—अर्थात् इस संसार में नाशवान और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं। सब मूल (उत्पन्न होने वाले) नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो दूसरा ही है जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सब का धारण पोषण करता है और वह अविनाशी और ईश्वर कहा गया है। और चूँकि मैं नाशवान जड़ पदार्थों से परे हूँ और अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ। इसलिए लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

गीता और योग

योग का मूल श्रोत वेद है। उपनिषदों में भी बार बार योग की चर्चा आई है। श्वेताश्वेतरोपनिषद में प्राणायाम और उसकी साधना के लिए शान्त, नीरव तथा मनोरम स्थान का विधान किया गया है। योग से जो प्रथम सिद्धि प्राप्त होती है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

लघुत्व मारोग्य मलोलुपत्वं
वर्ण प्रसादं स्वर सौष्ठवं च।
गंधः शुभो मूत्र पुरीष्वमल्पं
योगं प्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥

योग से हल्कापन, तन्दुरुस्ती, स्थिरता, प्रसन्न वर्ण, सुन्दर और मधुर स्वर, सुन्दर गंध, मूत्र और शौच थोड़ा होता है। योग की यह पहली सिद्धि है। ध्यानयोग का फल इस प्रकार कहा गया है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

उच्च स्थान में शरीर को सीधा रख, हृदय में इन्द्रियों को मन से लगा

कर विद्वान ब्रह्मरूपी नौका पर बैठकर सब भयानक सोतों नदी-नद को पार कर जाता है।

बौद्ध और जैन धर्मों में भी योग का स्थान माना गया है। गीता में योग शब्द बार बार प्रयुक्त हुआ है। योग की पूरी पूरी व्यवस्था ईसवी सन् से एक दो सौ वर्ष पूर्व पातञ्जल ने योगसूत्र में की जिस पर व्यास ने चौथी सदी में बड़ी टीका रची। वास्तव में योग शब्द भ्रम पैदा करने वाला है। योग का रूढ़ार्थ है प्राणायामादि साधनों से चित्तवृत्तियों का निरोध करना अथवा पातञ्जल सूत्रों में कहा गया समाधि या ध्यान योग है। योग शब्द युज् धातु से बना है जिसका अर्थ जोड़, मेल, मिलाप और एकता होता है। ऐसी स्थिति को पाने के लिए उपाय, युक्ति, साधन या कर्म को भी योग कहते हैं। अमरकोष में योग का अर्थ—"सहनोपाय ध्यान संगति युक्तिषु"। योग क्षेम में योग शब्द अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति में आता है। महाभारत में योग शब्द मुक्ति और साधन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। द्रोणाचार्य को अजेय देखकर श्रीकृष्ण ने कहा था कि, "एकोहि योगोऽस्य भवेद्वधाय"। इसके वध का एक ही उपाय है। गीता में योग या योग से बने सामासिक शब्द ८० बार आये हुए हैं। किन्तु कुछ स्थलों के सिवा योग शब्द पातञ्जल योग के अर्थ में और कहीं नहीं आया है। गीता के छठवें अध्याय में भगवान ने जिस योग का वर्णन किया है वह पातञ्जल योग की ओर संकेत करता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ अ. ६—१०
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिर मासन मात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ६—११
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ ६—१२
समं कायशिरो ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रंस्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ ६—१३

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारि व्रते।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ३ ६. १४
युञ्जन्नेव सदात्मानं योगी नियत मानसः।
शान्ति निर्वाण परमां मत्संस्था मधिगच्छति ॥ ६. १५

अर्थात् जिसका चित्त और आत्मा जीता हुआ है, आशा अर्थात् वासना से मुक्त, संग्रह से रहित ऐसा योगी अकेला ही एकान्त स्थान में रहता हुआ निरंतर आत्मा का ध्यान करे। शुद्ध भूमि में मृगछाला, वस्त्र और कुश का आसन बिछाकर जो न अति ऊंचा हो और न बहुत नीचा हो, उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को वश में करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे। शरीर, सिर और ग्रीवा को समान और स्थिर दृढ़ होकर अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, भयरहित और शान्त चित्त होकर मन को वश में करके, मेरे में चित्त को लगा कर, मेरे में लीन होकर बैठे। इस प्रकार आत्मा को सदा परमात्मा के साथ जोड़ते हुए मन को वश में करता हुआ योगी मेरी परम निर्वाण शान्त स्थिति को प्राप्त होता है। (अध्याय ६, १०—१५)

इस प्रकार के योग के विधान करने पर अर्जुन ने कहा कि हे मधु-सूदन ! मन के चंचल होने से इस ध्यानयोग के बहुत काल तक ठहरने वाली स्थिति को नहीं देखता हूँ तब भगवान ने मन को रोकने के लिए पातञ्जलयोग में बताए गए मार्ग को अर्जुन के सामने रखा। मन को रोकने के संबन्ध में पातञ्जल का एक सूत्र है, "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः" अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से मन को रोका जाता है। भगवान ने वही नुसखा गीता में अर्जुन के सामने पेश किया। अभ्यासेन तु कौंतेन वैराग्येण च गृह्यते। अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से मन को रोका जा सकता है। मन की सहज गति विषयों की ओर होती है। विषयों के सेवन से मन को सुख का बोध होता है। इसी से मन बार बार विषय की ओर चला जाता है। मन को उन विषयों की ओर से हटा कर उसे आत्मा में ठहराना अभ्यास

है, और विषय की असारता को अच्छी तरह समझकर उसकी ओर से उपराम हो जाना वैराग्य है।

महाभारत में योग शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है उसी अर्थ में यह योग शब्द गीता में प्रयुक्त हुआ है। युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय और जोड़ यही अर्थ संपूर्ण गीता में पाये जाते हैं।

गीता में योग का स्पष्ट अर्थ यह किया है कि, "योगः कर्मसुकौशलम्।" कर्म को कुशलता पूर्वक करना ही योग है। शंकरभाष्य में कर्मसुकौशलम् का यही अर्थ किया गया है अर्थात् "कर्म में स्वभाव सिद्ध रहने वाले बन्धन को तोड़ने की युक्ति।" अर्थात् कर्म को इस ढंग से करना कि वह बाँधने वाला न हो। बल्कि वह बन्धन से छुड़ाने वाला बने।

गीता और वेद

वैदिक आर्य देवताओं की स्तुति करते थे। ऋग्वेद के देवता अधिकतर प्रकृति के देवता हैं। आर्यों की देवकल्पना में धार्मिक प्रवृत्ति के साथ साथ बहुत कुछ अंश काव्य, कल्पना का भी था। वह कल्पना, मधुर और सौम्य थी! वैदिक देवताओं की गणना द्यावापृथिवी (द्यौः और पृथिवी) से प्रारंभ होती है। द्यौः का अर्थ आकाश। वरुण भी द्यौः का एक रूप है। वरुण धर्मपति है। वह मनुष्यों के सच झूठ को देखता रहता है। इन्द्र की महिमा वेदों में अधिक गाई गई है। वह वृष्टि का अधिष्टातृ देवता और इस लिए सभी संपत्ति का मूल है। उसके हाथ में विजली का वज्र रहता है जिससे वह वृत्र का—अनावृष्टि के दैत्य का—संहार करता है। पूर्व दिशा में उगता हुआ सूर्य ही मित्र है। और सूर्य जब पूर्ण तरह उदय होकर समूची पृथिवी और अन्तरिक्ष में अपनी बाहुयें फैला कर जगत को जीवन देता है तो वही सविता देवता कहलाता है। पूषा पशुओं और बनस्पतियों का देवता है। मरुत तूफ़ान का देवता और रुद्र का सहायक है। रुद्र—गिरीश है। पहाड़ों में सोने वाला दिशाओं का पति है। वह कपर्दी और जटाधारी है। प्रसन्न होने पर जब वह अपने मंगलरूप को प्रकट करता है तब वह शंभु, शंकर और

शिव होता है। अग्नि के तीन रूप हैं—सूर्य, विद्युत और अग्नि या मातरिश्वा सोम मूलतः वनस्पति था। पीछे से उसमें चन्द्रमा का अर्थ आ गया प्रजापति शुरू में सोम और सविता का विशेषण रहा। पीछे से स्वतन्त्र देवता हो गया। सरस्वती, नदियां, रात्रि, औषधियाँ, पर्जन्य, आपः और ऊषा आदि का वर्णन देवता रूप से किया गया है। आर्य मंत्रों से इन देवताओं की स्तुति करते थे। उनका यह पक्का विश्वास था कि देवता स्तुति करने से प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नता से जल बरसेगा, धन धान्य की वृष्टि होगी, घर, गाँव, नगर और राज्य में आनन्द होगा। जीवन सुखी होगा। आर्यों का यह मुख्य कर्त्तव्य था कि देवताओं की भक्ति में मंत्रों का उच्चारण करें और घी, अन्न, दूध-माँस और सोम के द्वारा यज्ञ करके उनकी बलि दें। धीरे धीरे यज्ञों का ज़ोर बढ़ने लगा। यज्ञ देवताओं की उपासना का केन्द्र बिन्दु हो गया। आनुष्ठानिक यज्ञ संपत्ति, सन्तान और ऐहिक सुखोपभोग की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इस यज्ञ के संपादन से आदित्य लोक से जल की वृष्टि होती है। इस यज्ञ से मोक्ष मिलता है—ऐसी धारणा आर्यों में प्रचलित थी।

गीता यद्यपि वेद की प्रामाणिकता (Authority) को बिल्कुल इन्कार नहीं करती; किन्तु वेदोक्त सकाम बुद्धि से किए गए यज्ञ याग और कर्मकाण्ड को हेय दृष्टि से देखती है। गीता के तीसरे और चौथे अध्याय में यज्ञ का वर्णन विस्तार से किया है। तीसरे अध्याय में आनुष्ठानिक यज्ञ और चौथे में आध्यात्मिक और आन्तरिक यज्ञ का वर्णन है। तीसरे अध्याय में कहा है कि:—

> सह यज्ञा : प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक ॥३-१०
> देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तुवः।
> परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥३-११
> इष्टान्भोगान्हि वोदेवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
> तैर्दत्तां न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेनएवसः ॥३-१२

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तोमुच्यन्ते सर्वं किल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥३-१३
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न सम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥३-१४
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥३-१५

अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग उन्नति करो और यह यज्ञ तुम लोगों की इच्छित कामनाओं का पूर्ण करने वाला होवे । इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करें । इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त होवोगे । यज्ञ द्वारा बढ़ाये गए देवता लोग तुम्हारे लिए प्रिय भोगों को देंगे । उनके द्वारा दिए गए भोगों को जो पुरुष इनके लिए बिना दिए ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है। यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं और जो पापी लोग अपने ही शरीर को पालने के लिए पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं । संपूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है और वृष्टि यज्ञ से होती है और वह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है। उस कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जान, वेद अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है । इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा यज्ञ में प्रतिष्ठित है । ३-१० से ३-१५ तक ।

इस प्रकार के वेदोक्त यज्ञ करने वाले पुरुष से उस पुरुष की स्थिति अधिक श्रेष्ठ है जो अपने में रमा है और अपने आप में पूर्ण तृप्त है। जैसा कि गीता के तीसरे ही अध्याय में यज्ञ प्रकरण में आगे कहा है कि जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला है, आत्मा में ही तृप्त रहनेवाला है, आत्मामें संतुष्ट रहने वाला है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है। तो भी ऐसे पुरुष को अनासक्त भाव से लोक संग्रह के लिए सतत कर्म करना ही चाहिए ।

उपरोक्त यज्ञ वर्णन में दो प्रकार के आदर्श दीख पड़ते हैं । (१)

वैदिक (२) वेदान्तिक। (१) वैदिक यज्ञ द्वारा ऐहिकसुखोपभोग की कल्पना की गई है। (२) मुक्त पुरुष का आदर्श जो कर्म अकर्म से परे है और आत्मा की शान्ति में रमण करता है। गीता ने बड़े ही सुन्दर ढंग से दोनों आदर्शों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। गीता कर्म का विधान तो करती है, किन्तु असंग भाव से कर्म करने का आदेश करती है।

चौथे अध्याय में यज्ञ का जो वर्णन है वह अध्यात्म परक है। नाना प्रकार के यज्ञों का विधान किया गया है। जैसे द्रव्य यज्ञ; तप यज्ञ, योग यज्ञ, और स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ। ये सब यज्ञ की सीढ़ियाँ हैं। द्रव्य यज्ञ निचली सीढ़ी है और ज्ञान यज्ञ अन्तिम सीढ़ी है। अन्तःकरण से सब कर्मों का त्याग और फिर भी कर्मेन्द्रियों द्वारा उनका आचरण—यही यज्ञ की परिसमाप्ति है। यज्ञ से अमरत्व की प्राप्ति होती है। गीता का यज्ञ अनासक्त भाव से निरंतर कर्त्तव्य कर्म करना ही है।

कर्म और यज्ञ—कर्म प्रकृति के द्वारा होता रहता है। कर्म का अखण्ड प्रवाह अनन्त काल से बहता आरहा है। सांख्यों का मत है कि जो पुरुष प्रकृति के कामों में नियुक्त होता है उसकी बुद्धि अहंकार, अज्ञान और काम में फंस जाती है। इसलिए वह कर्म में प्रवृत्त होती है। और दूसरी ओर यदि बुद्धि कर्म से निवृत्त हो तो इच्छा और अज्ञान की समाप्ति होने से कर्म का भी अन्त हो जाता है। इसलिए मोक्ष मार्ग की साधना में कर्म और संसार का त्याग एक आवश्यक अंग, अपरिहार्य अवस्था और अनिवार्य अन्तिम साधन है। भगवान कहते हैं कि ऐसे संन्यास का होना ही संभव नहीं है। जैसा कि गीता के तीसरे अध्याय के पाँचवें श्लोक में कहा है कि :----

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्म कृत।
कार्यते ह्य वशः कर्म सर्वः प्रकृति जैर्गुणैः ॥ ३. ५.

अर्थात् कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण भर बिना कर्म के नहीं रह सकता। सब ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। कर्म के बिना शरीर यात्रा भी पूरी नहीं होती है। इन्द्रियों के विषय तो हमारे बन्धन के निमित्त कारण हैं। असली कारण तो मन का तद्विषयक

आग्रह है। कर्म के संबन्ध में गीता का सार तत्त्व यह है कि त्रिगुण के व्यामोह और व्याकुलता से छूट जाओ, फिर कर्म हुआ करे, वह तो होता ही रहेगा फिर कर्म चाहे कितना विशाल हो, भीषण हो, उससे कुछ होता जाता नहीं। क्योंकि जीव नैष्कर्म्य की अवस्था को प्राप्त कर चुका है। कर्म योग का अभिप्राय है अनासक्ति-कर्म करना, परन्तु मन को इन्द्रियों के विषयों से और कर्म के फलों से अलिप्त रखना। 'नियतं कुरुकर्म त्वं कर्म ज्यायोह्य कर्मणः'। नियत कर्म क्या है? वेदोक्त कर्म आनुष्ठानिक कर्म नहीं जो स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किया जाता है; बल्कि मुक्त बुद्धि द्वारा नियत किया गया निष्काम कर्म। गीता के निष्काम कर्म का साधारणतया यह अर्थ लिया जाता है कि फल की कामना छोड़कर वेदोक्त कर्म शास्त्र की आज्ञानुसार उदासीन भाव से करता रहे; किन्तु गीता की शिक्षा उदार, गंभीर और स्वतन्त्र है। सब काल और सब मनुष्यों के लिए है। यज्ञार्थ कर्म का उपदेश दिया गया है। यज्ञार्थ के अलावा संसार में अन्य काम लोक में बन्धन के कारण हैं। अहंकार ही बन्धन की गाँठ है। अहंकार को छोड़कर भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करने से यह गाँठ ढीली पड़ जाती है। और अंत में हम मुक्त हो जाते हैं। मीमांसकों के वेदवाद ने इन कर्मों को मुक्ति का साधन मानकर इनके करने पर ज़ोर दिया है। वेदान्त के मत से कर्म केवल भौतिक फल देने वाले हैं और उनसे प्राप्त होने वाला स्वर्ग भी कनिष्ठ कोटि का है। इसलिए कर्मों के त्याग का उपदेश है। गीता इस विरोध का समाधान इस प्रकार करती है कि ये देवता एक ही ईश्वर के भिन्न भिन्न रूप हैं। देवताओं को दिया गया हव्य भौतिक फल और स्वर्ग को देने वाला है। ईश्वर की प्रसन्नता के लिए किया गया यज्ञ इनसे परे ले जाने वाला और महान मोक्ष का देनेवाला है। "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"। संपूर्ण कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं। निष्काम कर्म बाधक नहीं; बल्कि ज्ञान का साधक है।

गीता और बौद्ध ग्रन्थ

गीता में स्थित प्रज्ञ पुरुष के जो लक्षण बतलाये गए हैं वे ही लक्षण

बौद्ध ग्रन्थों में आदर्श भिक्षुओं के बतलाए गए हैं। बौद्धधर्म वैदिकधर्म की ही एक शाखा है; बल्कि वैदिकधर्म का एक सुधार धर्म है। गीता की तरह बुद्धभगवान ने भी वैदिक यज्ञ याग को निरुपयोगी तथा त्याज्यं बतलाया है और इस बात का निरूपण किया है कि ब्राह्मणं जिसे ब्रह्म सहव्यताय (ब्रह्म सायुज्यता) कहते हैं वह अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? इससे यह बात साफ़ तौर से स्पष्ट हो जाती है कि ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड अथवा गार्हस्थ्य और संन्यासधर्म, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनों शाखाओं के पूर्णतया रूढ़ हो जाने पर उनमें सुधार करने के लिए बौद्धधर्म का उदय हुआ। सुधार के संबन्ध में साधारणतया नियम यह है कि उसमें कुछ पहिले की बातें स्थिर रह जाती हैं और कुछ बदल जाती हैं। अतएव इस न्याय के अनुसार विचार करना चाहिए कि बौद्धधर्म ने वैदिकधर्म की किन किन बातों को स्थिर रखा है और किन किन बातों को छोड़ दिया है। यह विचार दोनों गार्हस्थ्य और संन्यास धर्म की पृथक पृथक दृष्टि से करना चाहिए। परन्तु बौद्ध-धर्म मूल में संन्यास मार्गीय अथवा केवल निवृत्ति प्रधान है।

वैदिक संन्यास धर्म पर दृष्टि डालने से जान पड़ता है कि कर्ममय सृष्टि के समस्त व्यवहार तृष्णा मूलक अथवा दुःखमय हैं। उससे अर्थात् जन्म मरण के भव चक्र से आत्मा का सर्वथा छुटकारा पाने के लिए मन को निष्काम और विरक्त करना चाहिए। और उसको दृश्य सृष्टि के मूल में रहने वाले आत्मस्वरूपी नित्य परब्रह्म में स्थिर करके सांसारिक कर्मों का सर्वथा त्याग करना उचित हैं। इस आत्मनिष्ठ स्थिति में ही निमग्न रहना संन्यासधर्म का मूल तत्त्व है। दृश्य सृष्टि नाम रूपात्मक तथा नाशवान है और कर्म विपाक के कारण ही उसका अखण्डित व्यापार जारी है।

कम्मना वत्तती लोका कम्मना वत्तती पजा।
कम्मनिबंधनासत्ता रथस्साऽणीव मायतो ॥

(सु० नि० वासठे सुत्त)

अर्थात् कर्म से ही लोग और प्रजा जारी है। जिस प्रकार चलती हुई गाड़ी कील से नियंत्रित रहती है उसी प्रकार प्राणीमात्र कर्म से बँधा हुआ है।

यद्यपि बुद्ध को वैदिकधर्म के कर्म और सृष्टि विषयक ये सिद्धान्त मान्य थे कि दृश्य सृष्टि नाशवान और अनित्य है, एवं उसके व्यवहार कर्म विपाक के कारण जारी हैं; तथापि वैदिकधर्म और उपनिषतकारों का यह सिद्धान्त उन्हें मान्य न था कि नाम रुपात्मक नाशवान सृष्टि के मूल में नाम रूप से अलग आत्मस्वरूपी परब्रह्म के समान एक नित्य और सर्व व्यापक वस्तु है। इन दोनों धर्मों में जो विशेष भिन्नता है वह यही है। गौतम बुद्ध ने यह बात साफ़ साफ़ कह दी है कि आत्मा या ब्रह्म यथार्थ में कुछ नहीं है, केवल भ्रम है। इसलिए आत्म-अनात्म के विचार में या ब्रह्म-चिंतन के पचड़े में पड़ कर किसी को अपना समय न खोना चाहिए। (सव्या सव सुत्त) दीघ्घ निकायों के ब्रह्मजाल सुत्तों से भी यही बात साफ़ ज़ाहिर होती है कि आत्मा विषयक, कोई भी कल्पना बुद्ध को मान्य न थी। उनका मत है कि 'सर्वमनात्मकम्'। जो कुछ है सभी अनात्म है। बौद्धधर्म आत्मा जैसी किसी वैयक्तिक या स्वतन्त्र सत्ता मानने से इन्कार करता है। संयुत्त निकाय में यह वर्णन है कि जब किसी अबौद्ध आचार्य ने बुद्ध से पूछा कि आत्मा है कि नहीं? बुद्ध ने इसका कोई जवाब नहीं दिया। बुद्ध ने इस प्रश्न के उत्तर में इस मौन का कारण बतलाया है और वह यह है कि, यदि हाँ कहा जाय तो यह इस सत्य का विरोधी होगा कि, "दृश्य जगत बिना अहंकार के है और नकारात्मक उत्तर दिया जाय तो जिज्ञासु के मन में यह भ्रम पैदा हो जायेगा कि अहं किसी समय था और फिर नहीं रहा। यह एक ऐसा भ्रम है जिसे बुद्ध आत्मा में विश्वास करनें की अपेक्षा अधिक खतरनाक समझते हैं। बौद्ध मतानुसार शरीर से पृथक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मृगमरीचिका के समान है। यह सर्वथा काल्पनिक है। इस मिथ्या दृष्टि को दूर करने के लिए बौद्धों ने अनात्म सिद्धान्त का आविष्कार किया है। जो कुछ है वह अहं रहित है। डाजेन जेन्जी ने प्रश्नोत्तर के रूप में आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। उनके मत में आत्मा शरीर से पृथक कोई सत्ता नहीं है और न वह एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। शरीर और आत्मा पृथक नहीं है। विपरीत इसके गीता की मान्यता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र सत्ता है जो शरीर से सर्वथ ।

पृथक है। आत्मा अजर है, अमर है। न इसे शस्त्र काट सकता है, न आग जला सकती है और न जल इसे भिगो सकता है और न वायु सुखा सकती है। यह नित्य है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है।

यद्यपि बुद्ध को आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्त्व मान्य न था तथापि इन दो बातों से वे पूर्णतया सहमत थे। (१) कर्म विपाक के कारण नाम रूपात्मक देह को नाशवान जगत के प्रपञ्च में बार बार जन्म लेना पड़ता है। (२) पुनर्जन्म का यह चक्कर या संसार दुःखमय है। इससे छुटकारा पाकर स्थिर सुख और शान्ति पा लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस भवरोग से छुटकारा कैसे मिले? इसका उत्तर भगवान बुद्ध ने इस प्रकार दिया है कि किसी रोग को दूर करने के लिए उस रोग का मूल कारण ढूँढ़कर उसी को हटाने का यत्न जैसे चतुर वैद्य किया करता है, उसी प्रकार सांसारिक दुःख के रोग को दूर करने के लिए, उसके कारण को जानकर उसी कारण को दूर करने वाले मार्ग का अवलंबन बुद्धिमान पुरुष को करना चाहिए। बौद्ध धर्म की नींव ४ आर्य सत्यों पर खड़ी है। यद्यपि बुद्ध आत्म-अनात्म विचार के पचड़े में नहीं पड़ते, आत्मा और ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते; किन्तु वैराग्य और निग्रह आदि साधनों से निर्वाण स्थिति को प्राप्त करना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। वास्तव में उपनिषद और गीता की ब्राह्मी स्थिति और बुद्ध की निर्वाण स्थिति दोनों एक ही है।

ब्राह्मी और निर्वाण स्थिति—गीता की ब्राह्मी और बौद्ध धर्म की निर्वाण स्थिति दोनों एक ही है। गीता की स्थितिप्रज्ञता भी वही है। गीता के अनुसार जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता रहित, अहंकार रहित और स्पृहारहित हुआ वर्तता है वह शान्ति को प्राप्त होता है। यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त कर वह मोहित नहीं होता है और इस निष्ठा में स्थित होकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। भगवान बुद्ध ने स्पष्ट उद्घोषित किया कि निर्वाण मनुष्य का चरम लक्ष्य है

और जीवन की संपूर्ण बुराइयों और उसके कष्टों से त्राण पाने का एकमात्र उपाय निर्वाण प्राप्ति ही है। निर्वाणं शान्तं। निर्वाण ही शान्त है। मिलिन्द पनहा में महाराज मिलिन्द के पूछने पर नागसेन ने निर्वाण के विशिष्ट स्वरूप की विवेचना की है। निर्वाण में संपूर्ण वासनाओं और कामनाओं का क्षय निहित है। अवकाश की तरह निर्वाण न पैदा होता है, न बुड्ढा होता और न मरता है और न इसका नाश होता है। यह अजेय है, इसे कोई चुरा नहीं सकता। यह असंग है। यह अनन्त है। बुद्धघोष के मत में निर्वाण काम, घृणा, राग, द्वेष और मोह माया का सर्वथा क्षय हो जाना है। निर्वाण अजन्मा है; क्योंकि इसका कोई पूर्व कारण नहीं है और चूँकि यह अजन्मा है इस लिए यह क्षय और मृत्यु के पाश से मुक्त है और चूंकि यह जन्म, क्षय के पाश से मुक्त है और चूँकि यह जन्म, क्षय और मृत्यु से बँधा हुआ नहीं है इसलिए यह नित्य है, शाश्वत् है। यह असत नहीं हो सकता है; क्योंकि सतत अभ्यास से उद्भूत अन्तः स्फूर्ति द्वारा अनुभव किया जा सकता है।

तथागत ने इन शब्दों में इस सत्य की पुष्टि की है;—हे भिक्षुओ! एक अजातम्, अभूतम्, अकृतम् और असंख्यातम् तत्त्व नहीं होता तो जातम्, भूतम्, कृतम् और संख्यातम् से मुक्त होने की चेष्टा नहीं दीख पड़ती; किन्तु चूँकि एक अजातम्, अभूतम्, अकृतम्, असंख्यातम् तत्त्व है इसलिए जातम्, अभूतम्, कृतम् और संख्यातम् पदार्थों से मुक्त होने की चेष्टा दीख पड़ती है। वेदान्त के ब्रह्म का स्वरूप भी यही है। आत्मा और ब्रह्म एक ही है। निर्वाण, ब्रह्म और आत्मा की एक ही स्थिति मालूम पड़ती है। इसलिए आत्मा का भावात्मक स्वरूप ही निर्वाण है। यह भगवान बुद्ध को भी मान्य है। आत्मा, ब्रह्म की सत्ता निर्वाण नाम से बौद्ध धर्म में स्वीकृत तो अवश्य है; किन्तु आत्मा और अनात्मा के तर्क जाल में फँसने से मना किया गया है।

बौद्ध धर्म यद्यपि मूलतः संन्यास प्रधान धर्म है तो भी उसमें गार्हस्थ्य धर्म पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जो मनुष्य बिना भिक्षु बने 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।—इस संकल्प के उच्चारण द्वारा बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जो जाय उसको बौद्ध ग्रंथों

में उपासक कहा गया है। बौद्ध धर्म के मानने वाले ये ही लोग गृहस्थ कहलाते हैं। वैदिक गार्हस्थ्य धर्म में से हिंसात्मक श्रौत यज्ञ याग और चारों वर्णों का भेद बुद्ध को ग्राह्य नहीं था। इन बातों को छोड़ देने से स्मार्त पंच महायज्ञ, दान आदि परोपकार धर्म और नीतिपूर्वक आचरण करना ही गृहस्थ का कर्त्तव्य रह जाता है। बुद्ध का मत है कि प्रत्येक गृहस्थ या उपासक को पंच महायज्ञ अवश्य करना चाहिए। उनका स्पष्ट कथन है कि अहिंसा; सत्य, अस्तेय, सर्व भूतों पर दया, अपने जैसा सब जीवों को जानना, शौच, मन की पवित्रता, सत्पात्रों, भिक्षुओं और संघों को दान देना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। नीति धर्म का पालन करना चाहिए। बौद्ध धर्म में इसी को शील कहते हैं। वैदिक और बौद्ध धर्म की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पञ्च महायज्ञ के समान ये नीति धर्म भी ब्राह्मण धर्म के धर्म सूत्रों और प्राचीन स्मृति ग्रन्थों से लिये गये हैं। और तो क्या इस आचरण के विषय में प्राचीन ब्राह्मणों की स्तुति स्वयं बुद्ध ने ब्राह्मण धार्मिक सूत्रों में की है और मनुस्मृति के कई श्लोक जैसे के तैसे धम्मपद में दिए गये हैं। बौद्ध धर्म में वैदिक ग्रंथों से न केवल पञ्च महायज्ञ और नीति धर्म ही लिये गये हैं; बल्कि कुछ उपनिषत्कारों द्वारा प्रतिपादित इस मत को भी बुद्ध भगवान ने स्वीकार किया है कि गृहस्थाश्रम में पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ—सुत्त निपातों के धार्मिक सुत्त में भिक्षु के साथ उपासक की तुलना करते हुए बुद्ध ने साफ़ साफ़ कह दिया है कि गृहस्थ को उत्तम शील के द्वारा बहुत हुआ तो स्वयं प्रकाश देवलोक की प्राप्ति हो जायेगी; परन्तु जन्म मरण के चक्कर से पूर्णतया छुटकारा पाने के लिए संसार तथा लड़के, बच्चे, स्त्री आदि को छोड़कर अन्त में उसको भिक्षु धर्म स्वीकार करना चाहिए। बौद्ध धर्म में यह तत्त्व पूर्णतया स्थिर है कि अर्हतावस्था या निर्वाण सुख की प्राप्ति के लिए गृहस्थाश्रम को त्यागना ही चाहिए। इसलिए यह कहने में कोई प्रत्यवाय नहीं कि बौद्ध धर्म संन्यास प्रधान धर्म है।

बुद्ध के बाद बौद्ध धर्म में अनेक प्रकार के मत, वाद, आग्रही पन्थ तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बने जो कहते थे कि आत्मा और ब्रह्म में से कोई भी

वस्तु नित्य नहीं हैं। जो कुछ देख पड़ता है वह क्षणिक या शून्य है। अथवा जो कुछ दीख पड़ता है वह ज्ञान है और ज्ञान के अलावा संसार में कुछ नहीं है। इस निरीश्वर वादी तथा अनात्मवादी बौद्धमत को ही क्षणिक वाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद कहते हैं। बुद्ध के बौद्ध धर्म में महायान पन्थ चला जिसमें भक्ति और लोक कल्याणकारी कार्यों पर विशेष ध्यान दिया गया है। बुद्ध को स्वयं अनादि, अनादि और पुरुषोत्तम रूप भी दिया गया। चीन, तिब्बत और जापान आदि देशों में आजकल जो बौद्ध धर्म प्रचलित है वह महायान संप्रदाय का है और और बुद्ध के निर्वाण के बाद महायान-पन्थी भिक्षुसंघ के दीर्घोद्योग के कारण ही बौद्ध धर्म का इतनी शीघ्रता से फैलाव हो गया। बौद्ध धर्म में महायान संप्रदाय का प्रादुर्भाव होने से पहिले न केवल भागवत धर्म ही प्रचलित था; बल्कि उस समय भगवद्गीता सर्व-मान्य हो चुकी थी। इसी गीता के आधार पर महायान पन्थ निकला है नकि गीता के सिद्धान्त बौद्धधर्म से लिये गये हैं।

ऊपर हमने गीता का वेद, उपनिषद, सांख्य, योग और बौद्ध धर्म से क्या संबन्ध है यह दिखाकर गीता के वाह्य कलेवर, उसके बहिरंग स्वरूप का दर्शन कराया है। अब गीता के हृदय, आत्मा और आन्तरिक स्वरूप का दर्शन कराने की चेष्ठा करेंगे। गीता वास्तव में अध्यात्म शास्त्र का एक अनूठा ग्रन्थ रत्न है। अध्यात्म के गहनतत्त्व सरल, सरस और प्रासादिक भाषा में प्रकट कर गीता ने मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

मानव जीवन एक युद्ध है, संहारक्षेत्र है—यही आलंकारिक भाषा में कुरुक्षेत्र है। अर्जुन नमूना है उस मानव आत्मा का जिसे अभी आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है; लेकिन वह ज्ञान का अधिकारी है। मनुष्य के जीवन में जो बड़ी बड़ी नैतिक और आध्यात्मिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उन्हीं को हल करना गीता का हेतु है। भगवान का स्वरूप सत्यं शिवं सुन्दरं बतलाया जाता है; किन्तु भगवान का रौद्र रूप भी है। भगवान के रौद्र रूप का दर्शन अर्जुन को समर भूमि में हुआ था। जगत का पहिला नियम संसार के द्वारा सर्जन और संरक्षण का नियम है। कहा भी है 'जीवो

जीवस्य जीवनम्'। जीव ही जीव का जीवन है। एक जीव दूसरे जीव पर निर्भर करता है। पशु जगत में देखें तो शेर तथा दूसरा खूँखार जानवर दूसरे जानवरों को मारकर खा जाते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। डारविन के मतानुसार जीवन संग्राम विकसन शील सृष्टि का विधान है। जर्मन विचारक नीत्से का आग्रह पूर्वक कहना है कि युद्ध जीवन का एक पहलू है और आदर्श मनुष्य वही है जो योद्धा है। आत्म शक्ति से प्रचण्ड संहारक शक्ति का उदय होता है। वशिष्ठ के शान्त हो जाने से हूण, पल्लव और शक सेनाओं ने विश्वामित्र पर हमला किया। जीवन जैसा है वैसा देखना होगा—यही सत्य है। भगवान के सत्यं शिवं सुन्दरं रूप को ही नहीं; बल्कि उसके रुद्र रूप को देखने का साहस करना होगा। हमारे देश में भगवान की तीन महाशक्तियों सृजन, संरक्षण और संहार के प्रतीक सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा की उपासना का विधान है। सत्य ही वास्तविक आध्यात्मिकता का आधार है। 'सत्यमायतनम्' कुरुक्षेत्र अर्थात् देवासुर संग्राम भूमि को स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता। वह धर्म क्षेत्र है। मृत्यु द्वारा जीवन का जो विधान है उसे स्वीकार करना होगा।

मानव इतिहास में जी जीवन संग्राम का क्रम सतत चला आरहा है। गीता युद्ध के स्वरूप को स्वीकार करती है और युद्ध का उपदेश भी करती है। गीता प्रकृति के तीनों गुणों सत्व, रज और तम को स्वीकार करती है। तमोगुण की जब प्रवृत्ति होती है तो मनुष्य जीवन संग्राम से विकल होकर हिम्मत हार जाता है। जान बचाने की चेष्टा करता है। जब रजोगुण की प्रधानता होती है तो वह अपने को युद्ध में झोंक देता है और विरोधी शक्ति पर पूरा अधिकार पाने के लिए आगे बढ़ता है और जब सत्व गुण की प्रधानता होती है तो मनुष्य संघर्ष के बीच में सत्य, धर्म, संतुलित अवस्था,समन्वय, शांति और संतोष का कोई तत्त्व ढूँढा करता है। परन्तु ऐसी भी अवस्था आती है जब मन इन सारी समस्याओं से फिर जाता है। ऐसे हल को ढूंढ़ता है जो त्रैगुण्य से परे हो। इसी में से संन्यास की प्रवृत्ति उठती है। अर्जुन युद्ध क्षेत्र में भीषण कार्य के परिणाम को देखकर संन्यास की ओर झुकता है और भगवान

कृष्ण उसे कार्य में प्रवृत्त कर, उस पर प्रभुत्व स्थापित कर आंतरिक साम्य और स्थिरता कायम करने का उपदेश करते हैं। अर्जुन का विराग सत्त्व की ओर प्रवृत्त रजोगुणी पुरुष का तामस विराग है। भगवान उसे शुद्ध कर अर्जुन को घोर कर्म में प्रवृत्त करते हैं और आंतरिक शान्ति संतुलन और स्थिरता कायम रखने का रास्ता बतलाते हैं।

क्षत्रिय बलवान पुरुष वही है जो आंतरिक और बाह्य संघर्ष को यहाँ तक कि इसके अत्यन्त भौतिक रूप युद्ध को अंगीकार करता है। रण, पराक्रम, महानता और साहस उसका स्वभाव होता है। धर्म की रक्षा करना और रण का आह्वान होते ही उत्साह पूर्वक उसमें कूद पड़ना उसका गुण और कर्त्तव्य होता है। उसका धर्म और कर्त्तव्य युद्ध में डटने में है न कि उससे हटने में। यहाँ संहार करना नहीं; बल्कि संहार से हाथ खींचना ही पाप है।

क्षत्रिय जीवन का उद्देश्य कुटुम्बियों के बीच सुख और मौज से रहना नहीं; बल्कि सच्चा उद्देश्य सत्य के लिए लड़ना है। 'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्' ! इस प्रकार के युद्ध तो सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होते हैं। संग्राम, साहस, शक्ति, शासन, वीरभाव, युद्ध करते करते वीर गति प्राप्त करना क्षत्रियों का आदर्श है। इसलिए भगवान अर्जुन को ललकार कर कहते हैं कि लड़ाई में यदि मारे गये तो स्वर्ग मिलेगा और यदि जीत गये तो पृथिवी का सुख मिलेगा।

सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जया जयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पाप मवाप्स्यसि ॥

अर्थात् सुख, दुःख को समान भाव से देखते हुए, लाभ, हानि, जय और पराजय में समदृष्टि रखते हुए युद्ध के लिए अपना कर्त्तव्य समझ कर युद्ध करो। इससे तुम पाप के भागी नहीं होगे।

गीता अध्यात्म शास्त्र का एक अनूठा ग्रन्थ है। गीता अध्यात्म के ऊँचे से ऊँचे तत्त्व को सरल से सरल शब्दों में व्यक्त करती है और साथ ही साथ मानव को व्यावहारिक जगत में समुचित बर्ताव करने का नैतिक माप दण्ड भी प्रदान करती है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य इसी जीवन में उस

ब्राह्मी स्थिति या स्थित प्रज्ञता प्राप्त करनी है जिसे प्राप्त कर मानव सुख, दुःख, निन्दा, स्तुति, यश-अयश और पाप पुण्य के द्वन्दों से परे जाकर सतत आनन्द का उपभोग करता है। जीते ही मुक्त हो जाता है। उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्राचीन काल से ही शास्त्रों ने ३ मार्ग का निर्देश किया है। वेद में इन्हीं मार्गों को ज्ञान काण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड कहा गया है। ज्ञान, कर्म, और उपासना या भक्ति का संगम गीता गंगा में हुआ है। गीता इन तीनों का सुन्दर समन्वय करती है। अब हम ज्ञान, कर्म और भक्ति पर अलग अलग विचार करते हुए गीता के साथ उनका क्या सम्बन्ध है—यह दिखाने की चेष्टा करेंगे।

दूसरा अध्याय

ज्ञान मार्ग

यद्यपि प्रत्येक मानव में हृदय है और बुद्धि भी है। हृदय होने से उसमें भावना होती है और बुद्धि होने से विचार शक्ति। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के होने से वह सतत कार्य रत रहता है। तथापि कुछ मनुष्य बुद्धि प्रधान होते हैं। उनकी बुद्धि आगे आगे चलती है उनकी पैनी बुद्धि इस जगत के बाह्य पदार्थों में घुसकर उनके अन्दर छिपे सत्य को पकड़ने के लिए प्रबल चेष्टा करती है और बराबर सत्यासत्य की छान-बीन करती रहती है। वह बुद्धि चरम सत्य को पकड़ने के लिए आगे बढ़ती है। ऐसे ही बुद्धि प्रधान व्यक्तियों के लिए ज्ञान पंथ का विस्तार हुआ है। उपनिषद में कहा है कि 'उत्तिष्ठत जाग्रता प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग प्रथस्तत्कवयो वदन्ति'। यह ज्ञान पंथ छुरा की धार के समान तेज़ है। इस मार्ग पर कठिनाई से चला जा सकता है। भगवान स्वयं सातवें अध्याय में ज्ञानी को अपना अत्यन्त प्रिय बतलाते हैं। वे कहते हैं कि चार प्रकार के लोग मुझे भजते हैं १. दुःखी २. जिज्ञासु ३. सांसारिक भोग्य पदार्थों का चाहने वाला ४. ज्ञानी। इनमें ज्ञानी मुझे सबसे अधिक प्रिय है। बहुत से जन्मों के बाद ज्ञानी मुझे प्राप्त होता है।

श्री भागवत में मानव की श्रेष्ठता का वर्णन उसकी बुद्धि के कारण बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है :—

> सृष्ट्वा पुराणि विविधान्य जयात्म शक्त्या,
> वृक्षान् पशून सरीसृप खग देश मत्स्यान।
> तैस्तै रतृप्त हृदयो मनुजं विधाय,
> ब्रह्मावबोध धिषणं मुद माप देवः॥

अर्थात् ब्रह्म देवने अपनी आत्म शक्ति से नाना प्रकार की सृष्टि वृक्ष

पशु, सरकने वाले जीव, पक्षी, देश और मछली को बनाया; किन्तु इनसे अतृप्त होकर फिर मनुष्य को बनाया और आनन्द में मग्न हो गए। उन्होंने मानव में बुद्धि ऐसे तत्त्व का निर्माण कर इस बात से संतोष माना कि मेरी सृष्टि का रहस्य समझने वाला मनुष्य अब तैयार हो गया है। मानव और मानवेतर प्राणियों में भेद करने वाली विभाजकरेखा मानव बुद्धि ही है।

मानव जीवन के दो पक्ष हैं। (१) आत्म पक्ष (Subjective) (२) विषय पक्ष (Objective)। इन्हें हम ज्ञाता (Knower) और ज्ञेय (Knowable) कह सकते हैं। जिस समय मानव बाल रूप में प्रकट होता है उसमें यह जिज्ञासा पैदा होती है कि उसके आस पास चारों ओर जो पदार्थ हैं उनको वह जाने। जो वस्तु उसके सामने आती है उसी के बारे में वह पूछ बैठता है कि यह क्या ? वह वाह्य जगत को अपनी जिज्ञासा वृत्ति से समझ लेना चाहता है। ज्ञान दो का होता है (१) आत्म ज्ञान अर्थात् अपना ज्ञान और (२) वाह्य जगत का ज्ञान। सर्व प्रथम वह वाह्य जगत का ज्ञान संचित करता है। ज्ञान संचय के हमारे पास पंच ज्ञानेन्द्रिय—कान, नाक, नेत्र, जिह्वा और त्वचा, मन और बुद्धि साधन हैं। नेत्र से हम कोई रूप देखते हैं और मन में उसकी तस्वीर खिंच जाती है और बुद्धि अपना निर्णय देती है कि वह रूप सुन्दर है या बदसूरत। आत्मा इससे भी परे द्रष्टारूप से स्थित है। कहा है कि यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे। जो इस पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। पिण्ड का सम्यक् ज्ञान होने से ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो सकता है। जिन मूल तत्त्वों से यह शरीर बना है उसी से यह दृश्य जगत बना हुआ है। प्राचीन समय में इस बात का निरीक्षण सूक्ष्मरीति से किया गया था कि मनुष्य को ज्ञान किस प्रकार होता है। इसी निरीक्षण को गीता में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार कहा है। यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार अध्यात्म विद्या की जड़ है। इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विद्या का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर एवं सद्सद्विवेक शक्ति के उदय होने पर बुद्धि इसी निर्णय पर पहुँचती है कि किसी भी मनो देवता का अस्तित्त्व आत्मा के परे या स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार—गीता के १३ वें अध्याय में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का

विचार विस्तार से किया गया है। शरीर एक बड़ा भारी कारखाना है। बाहर के माल को भीतर लेने के लिए ज्ञानेन्द्रिय रूपी द्वार हैं और भीतर का माल बाहर भेजने के लिए कर्मेन्द्रिय रूपी द्वार हैं। ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार से बाह्य सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान होता है। बाहर का माल भीतर ले जाने वाली ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञाता नहीं कह सकते इन्हें द्वार कहते हैं। इन दरवाजों से माल भीतर आ जाने पर व्यवस्था करना मन का काम है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन पर जो संस्कार होता है उन्हें पहिले इकट्ठा करके और उनकी परस्पर तुलना करके यह निर्णय करना होता है कि उनमें अच्छे कौन से हैं और बुरे कौन से हैं? लाभदायक और हानिकारक कौन से हैं? यह निर्णय हो जाने पर उनमें से जो बात अच्छी, ग्राह्य, लाभदायक, उचित अथवा करने योग्य होती है उसे करने में हम प्रवृत्त हुआ करते हैं। यही सामान्य मानसिक व्यवहार है। उदाहरणार्थ जब हम किसी बगीचे में जाते हैं तब आँख और नाक के द्वारा बाग़ और फूलों के संस्कार हमारे मन पर पड़ते हैं। परन्तु जब तक हमारे आत्मा को यह ज्ञान नहीं होता कि इन फूलों में किसकी सुगन्धि अच्छी और किसकी बुरी है तब तक किसी फूल को तोड़ने की इच्छा मन में नहीं होती। अतएव इन मनो व्यापारों के तीन स्थूल भेद किये जा सकते हैं:— (१) ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा वाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके उन संस्कारों को तुलना के लिए व्यवस्था पूर्वक रखना। (२) ऐसी व्यवस्था हो जाने पर उनके अच्छेपन या बुरेपन का अथवा सार और असार का विचार करके यह निश्चय करना कि कौन सी बात ग्राह्य है और कौन सी त्याज्य और (३) निश्चय हो चुकने पर ग्राह्य वस्तु को प्राप्त कर लेने के लिए प्रवृत्त होना।

मन और बुद्धि के भेद—मन संकल्प विकल्पात्मक है। बिना निश्चय किये कल्पना करने वाली यह एक इन्द्रिय है। बुद्धि न्यायाधीश का काम करती है। बुद्धि के निर्णय को मन कार्य रूप में परिणत करता है। सार असार का विचार करके किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान आत्मा को करा देना अथवा चुनाव करके यह निश्चय करना कि अमुक वस्तु अमुक प्रकार की है

और तर्क से कार्य कारण संबन्ध को देखकर निश्चित अनुमान करना अथवा कार्य अकार्य का निर्णय करना इत्यादि सब व्यापार बुद्धि के हैं। संस्कृत में इन व्यापारों को व्यवसाय या अध्यवसाय कहते हैं। महाभारत में बुद्धि की यह व्याख्या दी गई है:—व्यवसायात्मिका बुद्धिः मनो व्याकरण मात्यकम्। बुद्धि तलवार के समान सदा काट छांट किया करती है। संकल्प, वासना, इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, करुणा, प्रेम, दया, सहानुभूति कृतज्ञता, काम, लज्जा, आनन्द, भय, राग, संग, द्वेष, लोभ, मद, मत्सर इत्यादि सब मन के गुण अथवा धर्म हैं। बुद्धि की सहायता के बिना मनो-वृत्तियाँ अन्धी हैं। मनुष्य का कोई काम शुद्ध तभी हो सकता है जब कि बुद्धि शुद्ध हो अथवा भले बुरे का वह अचूक निर्णय कर सके। मन बुद्धि के अनुसार आचरण करे और इन्द्रियाँ मन के अधीन रहें। मन और बुद्धि के सिवा चित्त और अन्तः करण दो शब्द और प्रचलित हैं। अन्तःकरण में मन, जब पहिले पहल वाह्य विषयों का चिन्तन करने लगता है तो वह चित्त कहलाता है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। "मन सस्तु पराबुद्धिः।" गीता। बुद्धि के दो भेद—(१) व्यवसायात्मिका (शुद्ध बुद्धि) (२) वासनात्मक (अशुद्ध बुद्धि) कान्ट ने भी बुद्धि के दो भेद किए हैं १—शुद्ध बुद्धि (Pure reason) (२) व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason) सर्व प्रथम बुद्धि को शुद्ध करना चाहिए। गीता में बुद्धि के तीन भेद किये गये हैं (१) सात्विक (२) राजसिक (३) तामसिक। तीनों प्रकार की बुद्धि के लक्षण गीता में दिये हुये हैं।

सात्विक बुद्धि—प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्ध और मोक्ष को जो बुद्धि जानती है वह सात्विक बुद्धि कहलाती है।

राजसिक बुद्धि—जो धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य को ठीक तौर से नहीं ज़ानती अर्थात् ग़लत ढंग से जानती है वह बुद्धि राजसिक कहलाती है।

तामसिक—अन्धकाराज्ञान से ढकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म और सब अर्थों को उल्टी समझती है वह बुद्धि तामसिक है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि को शुद्ध करने के लिए पातञ्जल योग की समाधि से, भक्ति से, ज्ञान से अथवा ध्यान से परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को

रहकर कर यह तत्त्व पूरी तौर से बुद्धि में भिद जाना चाहिए कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है। इसी को आत्मनिष्ठ बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार जब व्यवसायात्मिका बुद्धि आत्मनिष्ठ हो जाती है और मनोनिग्रह की सहायता से मन और इन्द्रियाँ उसकी अधीनता में रहकर उसकी आज्ञानुसार आचरण करना सीख जाती हैं तब इच्छा, वासनादि मनोधर्म अर्थात् वासनात्मक बुद्धि आप ही आप शुद्ध और पवित्र हो जाती है। और शुद्ध सात्विक कर्मों की ओर इन्द्रियों की सहज प्रवृत्ति होने लगती है। अध्यात्म दृष्टि से यही सब सदाचरणों की जड़ अर्थात् कर्म योग शास्त्र का रहस्य है। शुद्ध बुद्धि के संबन्ध में हमारे शास्त्रकारों का यही मत है कि जिस बुद्धि को आत्मा अथवा परमेश्वर के सर्व व्यापी यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हुआ है वही शुद्ध बुद्धि है और जिसे वह ज्ञान नहीं हुआ है वह वासनात्मक बुद्धि कहलाती है।

सृष्टि के सब पदार्थों को क्षर या व्यक्त कहते हैं और उन नाशवान पदार्थों में जो सार भूत नित्यत्व है उसे अक्षर या अव्यक्त कहते हैं। इन दोनों से परे जो सब का मूल भूत एक तत्त्व है उसी को परमात्मा या पुरुषोत्तम कहते हैं।

मन, बुद्धि के अतिरिक्त शरीर में चेतना नामक एक और तत्त्व होना चाहिए। कुछ लोग शरीर, मन, बुद्धि, प्राण के संघात को ही चैतन्य मानते हैं; किन्तु इनकी एकता करने वाला एक दूसरा ही तत्त्व होना चाहिए। यही आत्म तत्त्व है। इसको जानने वाला कोई दूसरा नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य ने कहा है :—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"। अर्थात् इस जानने वाले को दूसरा कौन जान सकता है? अंत में यही सिद्धान्त कहना पड़ता है कि इस चेतना विशिष्ट शरीर में एक ऐसी शक्ति रहती है जो हाथ, पैर, इन्द्रियों से लेकर प्राण, चेतना, मन और बुद्धि जैसे परतन्त्र और एक देशीय नौकरों के भी परे है जो उन सब व्यापारों की एकता करती है और उन कर्मों की दिशा बतलाती है। और जो उनके कर्मों की नित्य साक्षी रह कर उनसे भिन्न अधिक व्यापक और समर्थ है। सांख्य और वेदान्तशास्त्रों को यह सिद्धान्त मान्य है। कांट का भी ऐसा ही मत है। 'यो बुद्धेः परतस्तुसः'

जो बुद्धि से परे है वही आत्मतत्त्व है। सांख्य उसे पुरुष और वेदान्त उसे आत्मा कहता है। मैं हूँ—यह प्रत्येक मनुष्य को होने वाली प्रतीति ही आत्मा के अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण है।

हमारे शास्त्रकारों ने सृष्टि तत्त्व के विस्तार पूर्वक विवेचन करने में बड़ा परिश्रम किया है। सांख्य और वेदान्त ने २५ तत्त्व माने हैं। गीता भी २५ तत्त्व स्वीकार करती है। सांख्य पुरुष और प्रकृति दो मूल तत्त्व मानता है। वेदान्त इससे आगे बढ़ता है और कहता है कि दो भिन्न तत्त्व नहीं, एक ही तत्त्व है। वेदान्त भारतीय मस्तिष्क की सब से बड़ी देन है। भारतीय दार्शनिक विचारों या सिद्धान्तों की परिसमाप्ति वेदान्त में हुई है। वेदान्त अध्यात्म शास्त्र का मुकुटमणि है। वेदान्त के संबन्ध में किसी सुभाषितकार ने कहा है :—

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जंबुके विपिनेयथा।
न गर्जन्ति महाशक्तिः यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थात् अन्य शास्त्र शृगाल की तरह बन में तभी तक गरजते हैं जब तक महाशक्ति धारी वेदान्त सिंह की भाँति नहीं गरजता।

आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए अध्यात्मशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। आत्मा अपने आपही जाना जा सकता है। आधिभौतिक शास्त्र (Physical Science) और अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) में सब से बड़ा जो भेद है वह यह कि आधिभौतिक शास्त्रों का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है और अध्यात्मशास्त्र का विषय स्वयं संवेद्य है। इन्द्रियों के ज्ञान क्षेत्र के परे है। आत्म तत्त्व का निरूपण केवल तर्क और अनुमान के आधार पर नहीं किया जा सकता। वह अचिंत्य और अगोचर पदार्थ होने से स्व-संवेद्य है।

सांख्यवादियों का द्वैत—प्रकृति और पुरुष भगवद्गीता को मान्य नहीं है। भगवद्गीता के अध्यात्मज्ञान और वेदान्त शास्त्र का पहिला सिद्धान्त यह है कि प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृतत्त्व है जो चर और अचर सृष्टि का मूल है। सांख्यों की प्रकृति यद्यपि

निर्गुण एक है अर्थात् सगुण है; परन्तु प्रकृति और पुरुष का विचार करते हुए आठवें अध्याय के २० वें श्लोक में कहा है:—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

जो सगुण वह नाशवान है। इसलिए इस अव्यक्त और सगुण प्रकृति का भी नाश हो जाने पर अन्त में जो कुछ अव्यक्त शेष रह जाता है वही सारी सृष्टि का सच्चा और नित्य तत्त्व है।

सृष्टि के पदार्थों का जो ज्ञान हमें अपने ज्ञानेन्द्रियों से होता है वही हमारी सारी सृष्टि है। अतएव प्रकृति और सृष्टि को ही कई स्थलों पर ज्ञान कहा है और इसी दृष्टि से पुरुष ज्ञाता कहा जाता है। परन्तु जो सच्चा ज्ञेय—जानने योग्य तत्त्व है वह प्रकृति, पुरुष, ज्ञान और ज्ञाता से भी परे है। इस लिए गीता में उसे परम पुरुष कहा है। तीनों लोकों को व्याप्त कर उन्हें सदैव धारण करने वाला जो यह परम पुरुष है उसे पहचानो। वह एक है, नित्य है, अक्षर। परमात्मा का श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर है। और इस अव्यक्त से व्यक्त होना उसकी माया है। इस माया से पार हो कर जब तक मनुष्य को परमात्मा के शुद्ध तथा अव्यक्त रूप का ज्ञान न हो तब तक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त ही है। यही मत गीता, उपनिषद और महाभारत को भी मान्य है। परमेश्वर के तीन स्वरूप बतलाये गये हैं:—(१) सगुण (२) सगुण निर्गुण (३) निर्गुण

ब्रह्म एक निर्द्वन्द, शान्त, सम और अविनाशी है तो यह प्रश्न उठता है कि उस एक से अनेक, शान्त से अशान्त और उस अविनाशी तत्त्व से यह विनशन शील दृश्य कैसे हुआ? दृश्य जगत मनुष्य और पशु दोनों को समानरूप से इन्द्रिय गोचर होते हैं; किन्तु पशु की अपेक्षा मनुष्य में एकीकरण की शक्ति है। सारा भेद रूप या आकार में होता है और जब इन्हीं गुणों के संस्कारों को जो मन पर हुआ करते हैं द्रष्टा-आत्मा एकत्र कर लेता है तब एक ही तात्त्विक पदार्थ को अनेक नाम प्राप्त होते हैं। इसका सबसे सरल उदाहरण जल और तरंग का और उससे बने गहने का है। आकृतियों

में परिवर्तन के कारण भिन्न भिन्न नाम रूप होते हैं; किन्तु इनका मूल तत्त्व एक ही है। वेदान्त शास्त्र के इस सिद्धान्त को कांट आदि दार्शनिकों ने भी माना है। सत्य—जिसका अन्य बातों के नाश हो जाने पर भी नाश नहीं होता वही सत्य है। ग्रीन ने सत्य की व्याख्या इस प्रकार की है। "Whatever any thing is really, it is unalterably" अर्थात् जो सत्य है वह अपरिवर्तनीय है, अर्थात् तीनों काल में एक सा है। उपनिषदों में बार बार यह बतलाया गया है कि नित्य बदलते रहने वाले नाशवान नाम और रूप नित्य नहीं है। जिसे नित्य स्थिर तत्त्व देखना हो उसे अपनी दृष्टि को इन नाम रूपों से बहुत आगे पहुँचाना चाहिए। इसी नाम रूप को अविद्या या माया कहा गया है। भगवद्गीता में माया मोह आदि शब्दों से वही अर्थ विवक्षित है। जो कुछ ज्ञान होता है सो आत्मा का होता है इसलिए आत्मा ही ज्ञाता जानने वाला हुआ। और इस आत्मा को नाम रूपात्मक सृष्टि का ज्ञान होता है। इसलिए नाम रूपात्मक सृष्टि का स्वरूप ज्ञान हुआ। और नाम रूपात्मक सृष्टि के मूल में जो वस्तु तत्त्व है वही ज्ञेय है। इसी वर्गीकरण को मानकर भगवद्गीता में ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ, आत्मा और ज्ञेय को इन्द्रियातीत नित्य परब्रह्म कहा है फिर इस ज्ञान के तीन भेद सात्विक, राजसिक और तामसिक किये हैं।

सर्व भूतेषु येनैकं भावमव्यय मीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु, तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम ॥ गीता १८. २०

जिस ज्ञान से मनुष्य अलग अलग सब भूत में एक अविनाशी परमात्म-भाव को समभाव से देखता है उस ज्ञान को सात्विक ज्ञान कहते हैं।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नाना भावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ १८. २१,

और जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सब भूतों में अनेक भावों को अलग अलग करके जानता है उस ज्ञान को राजस समझना चाहिए।

यत्तु कृत्स्न वदे कस्मिन्कार्ये सक्त महैतुकम्।
अतत्त्वार्थं बदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १८. २२.

और जो ज्ञान एक कार्य रूप शरीर में ही पूर्णता के समान विना हेतु का, निरुद्देश्य, अर्थहीन और तुच्छ है वह ज्ञान तामस कहा गया है। कुछ लोग मानते हैं कि ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय में अंत में ज्ञान के सिवाय कुछ नहीं रह जाता। इसी को विज्ञानवाद कहते हैं। मि० ह्यूम जैसे विद्वान इसी मत के पुरस्कर्ता हैं।

सृष्टि के मूल में एक ही मूल तत्त्व है। ऋग्वेद में भी कहा है कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"! एक ही सत्य है; किन्तु ब्राह्मण या पंडित उसे अनेक बतलाते हैं। एक रूप के अनेक रूप करके दिखलाने के अर्थ में माया शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ यह वर्णन है कि "इन्द्रो मायाभिःपुरु रूपः ईक्षते।" इन्द्र अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है। तैत्तिरीय संहिता और श्वेताश्वेत उपनिषद में माया शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

ब्रह्म का स्वरूप—कुछ लोग प्राण को ही परब्रह्म मानते हैं। जर्मन पंडितगण [illegible] ने परब्रह्म को वासनात्मक निश्चित किया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को मनोमय कहा है। ऐतरेय उपनिषद में सच्चिदानन्द स्वरूप बतलाया गया है तथा ऊँकाररूप भी कहा गया है।

छान्दोग्योपनिषद से वाणी की अपेक्षा मन अधिक योग्यता का, मन से ज्ञान, ज्ञान से बल और इसी प्रकार आगे चढ़ते चढ़ते आत्मा सबसे श्रेष्ठ माना गया है। आत्मा को ही ब्रह्म का सच्चा स्वरूप समझना चाहिए। ग्रीन का भी ऐसा ही मत है। वेदान्त के महा वाक्य—अहं ब्रह्मास्मि। तत्त्वमसि ब्रह्म आत्मा स्वरूपी है। ब्रह्म और आत्मा एक ही है।

इन्द्रियों से परे जो ब्रह्म है उसे कैसे जाना जाय? स्थूल दृष्टि से जब हम देखते हैं तो यह दीख पड़ता है कि इन्द्रियाँ जुदा हैं और उनके विषय उनसे अलग हैं। यह भेद कैसे छूटे? यदि यह भेद नहीं छूटता तो ब्रह्मात्मैक्यज्ञान कैसे होगा? यदि गंभीर विचार किया जाय तो यह साफ़ हो जायगा कि यदि मन का सहयोग प्राप्त न हो तो आँखें देखती हुई भी नहीं देख सकतीं, कान सुनते हुए भी नहीं सुन सकते। व्यवहार में होनेवाले इस अनुभव पर ध्यान देने से सहज ही अनुमान होता है कि नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के

अक्षुण्ण रहते हुए भी मन को यदि उसमें से निकाल लें तो इन्द्रियों के विषय के द्वन्द बाह्य सृष्टि में वर्तमान होने पर भी अपने लिए न होने के समान रहेंगे ! फिर परिणाम यह होगा कि मन केवल आत्मस्वरूपी परब्रह्म में रत रहेगा। इससे हमें ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार होने लगेगा। ध्यान से, समाधि से, उपासना से अथवा अत्यन्त ब्रह्म विचार करने से अंत में जिसको यह मानसिक स्थिति प्राप्त हो जाती है फिर उसकी नज़र के आगे दृश्य सृष्टि के द्वन्द नाचते भले रहें पर वह उनसे लापरवाह रहेगा। उसे वे दीख नहीं पड़ते; और उसके अद्वैत ब्रह्म स्वरूप का पूर्ण साक्षात्कार आप ही आप होता रहता है। पूर्ण ब्रह्मज्ञान की स्थिति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी नहीं होती। उपास्य और उपासक का द्वैत भाव भी नहीं बचता। यह स्थिति शब्दों से बतलाई नहीं जा सकती। याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक में इस ब्राह्मी स्थिति का वर्णन यों किया है:—"यत्र हि द्वैतमिवभवति तदितर इतरंपश्यति··· जिघ्रति···शृणोति···विजानाति। यत्रात्मस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् ···जिघ्रेत···शृणुयात्··· विजानीयात्। विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। एतावदरे खलु अमृतत्त्वमिति।" इसका भावार्थ यह है कि देखने वाले द्रष्टा और देखने का पदार्थ जब तक बना हुआ था तब तक एक दूसरे को देखता था, सूँघता था, सुनता था और जानता था; परन्तु जब सब आत्ममय हो गया अर्थात् अपना और पराया भेद ही नहीं रहा तब कौन किसको देखेगा, सूँघेगा, सुनेगा और जानेगा ? अरे ! जो स्वयं जानने वाला है उसी को जानने वाला और दूसरा कहाँ से लाओगे ? 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।' ईशोपनिषद। अर्थात् जहाँ एक आत्म तत्त्व दीख पड़ता है वहाँ शोक कहाँ ? मोह कहाँ ? ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति।। ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। उपनिषदों में इस स्थिति के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है कि नमक की डली जब पानी में घुल जाती है तब जिस प्रकार यह भेद नहीं रहता कि इतना भाग खारे पानी का है और इतना भाग साधारण पानी का है। उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान हो जाने पर सब ब्रह्ममय हो जाता है। तुकाराम ने गूँगे के गुड़ का दृष्टान्त दिया है।

गूँगे का गुड़ है भगवान, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक? जलतरंग से हैं हम एक॥

अध्यात्म दृष्टि से जगत की सभी वस्तुओं के दो वर्ग होते हैं। (१) नाम रूप (२) नाम रूप से ढका हुआ नित्य तत्त्व। इनमें नाम रूपों को ही सगुण माया या प्रकृति कहते हैं। परन्तु नाम रूपों को निकाल डालने पर जो नित्य द्रव्य रहता है वही निर्गुण है। यह नित्य और अव्यक्त तत्त्व ही परब्रह्म है। किसी कवि ने अद्वैतमत का सार तत्त्व एक श्लोक में बतलाया है:—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः॥

अर्थात् जो करोड़ों ग्रन्थों में कहा गया है उसे आधे श्लोक में कहता हूँ।

अर्थात् ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, दूसरा... । जब ब्रह्मात्मैक्य का पूरा ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है। इस आध्यात्मिक अवस्था को ही ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष कहते हैं। पूर्ण आत्म ज्ञान जब और जहाँ होगा उसी क्षण में, उसी स्थान पर मोक्ष धरा हुआ है, क्योंकि मोक्ष तो आत्मा की मूल शुद्धावस्था है। शिवगीता में मोक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है:—

'मोक्षस्य नहि वासोस्ति, न ग्रामान्तरमेववा।
अज्ञान हृदय ग्रन्थि नाशो, मोक्ष इति स्मृतः॥

मोक्ष का न वास है और न ग्राम है। अज्ञान रूपी हृदय की ग्रन्थि के नाश होने पर मोक्ष ही है।

गीता में बुद्धियोग शब्द का प्रयोग हुआ है। शुद्ध बुद्धि और फलतः शुद्ध संकल्प के साथ उस एक परमात्मा में स्थित होकर सब भूतों में एक आत्मा को जानते हुए तथा उसकी सब शान्ति में से कार्य करते हुए और उपरितल के मनोमय पुरुष की हजारों प्रेरणाओं के वश इधर उधर भटके बिना कर्म करना ही बुद्धियोग है।

गीता के अनुसार बुद्धि दो प्रकार की होती है। (१) एकाग्र, संतुलित, एकरस और परम सत्य में निमग्न। एकत्व उसका वैशिष्ट्य है। और एकाग्र स्थिरता उसका प्राण। दूसरी बुद्धि ऐसी है जिसमें कोई स्थिर संकल्प नहीं है। कोई एक निश्चय नहीं है। नाना कामनाओं और संकल्पों वाली है जो जीवन और परिस्थिति से उठने वाली इच्छाओं के पीछे इधर उधर भटका फिरा करती है।

विषयों से इन्द्रियाँ परे हैं; इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे चिदात्मापुरुष। व्यवसायात्मिका बुद्धि, एकाग्र बुद्धि से उस चिदात्मापुरुष को समझना होगा। संतुलित बुद्धि से मन के विकारों को हम भगा सकते हैं।

मन की वृत्तियाँ दो हैं:—(१) अन्तर्मुखी (२) वहिर्मुखी। कठोपनिषद में बड़े सुन्दर ढंग से वहिर्मुख वृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू—
स्तस्मात्पराङ् पश्यतिनान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

स्वयंभू ने इन्द्रियों को वहिर्मुख बनाया है। इसलिए इन्द्रियाँ बाहर की ओर ही देखती हैं और इन इन्द्रियों के दरवाज़े मन की वृत्तियाँ भी बाहर की ओर दौड़ा करती हैं। इन्द्रियाँ अन्दर भीतर की ओर नहीं देखतीं; कोई धीर पुरुष वृत्ति को अन्तर्मुखी करके अमृतत्व की इच्छा करता है।

बुद्धि को अन्तर्मुखी कर उसे परम पुरुष में नियोजित करने से वह शुद्ध और निर्मल होती है। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान होती हैं। वे बाहर के विषयों के लिए दौड़ती हैं। गीता में श्रीकृष्ण भगवान उपदेश करते हैं कि, "तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतमत्परः।" उन सब इन्द्रियों को संयम में रख कर मेरे में चित्त लगा। केवल इन्द्रियों को विषयों से रोकने से ही वे काबू में नहीं आतीं। जैसा कि गीता में कहा है:—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्यदेहिनः ।
रस वर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वानिवर्तते ॥

अर्थात् इन्द्रियों से विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; किन्तु विषयों में जो राग वृत्ति रहती है वह दूर नहीं होती। वह तो परम तत्त्व को जो परमानन्द रूप है देखकर निवृत्त हो जाती है। इसी लिए केवल इन्द्रिय संयम से ही काम नहीं चलता; किन्तु भगवान को पूर्ण संमर्पण करने से ही इन्द्रियाँ पूर्णतया अधीन होती हैं।

बुद्धि का मल तो विषयों में राग वृत्ति है। रागवृत्ति के सर्वथा नष्ट हो जाने पर बुद्धि पूर्णतया निर्मल हो जाती है। बुद्धि के निर्मल होने से चित्त में प्रसाद गुण की वृद्धि होती है और प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। जिसकी प्रज्ञा बुद्धि स्थिर हो गई है, जिसका मन विषयों में नहीं रमता उस पुरुष को गीता में स्थित प्रज्ञ कहा गया है। स्थित प्रज्ञ पुरुष का लक्षण गीता के दूसरे अध्याय में ५२ वें श्लोक से लेकर ७२ वें श्लोक तक बड़े विस्तार से वर्णित है। ऐसे पुरुष की जो स्थिति है वही ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। यही स्थिति प्रत्येक मानव के लिए प्राप्य है। इस स्थिति के प्राप्त होने के पूर्व जीवन में सुख कहाँ? चैन कहाँ? मन में शान्ति कहाँ? इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए गीता में उपाय बतलाये गये हैं और इस स्थिति के प्राप्त हो जाने पर योगस्थ होकर नियत कर्म करने को उपदेश गीता करती है। योगस्थः कुरुकर्माणि संगंत्यक्त्वा धनंजय। योगस्थ होकर आसक्ति रहित होकर हे अर्जुन कर्म करो।

तीसरा अध्याय

भक्ति योग मार्ग

संसार में ऐसे मनुष्य तो बहुत कम होते हैं जिन की बुद्धि सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण होती है। बुद्धि वहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों प्रकार की होती है। यदि बुद्धि तीक्ष्ण है और वह बहिर्मुखी है तो वह प्रकृति के छिपे हुए रहस्यों का उद्घाटन करती हुई ऐन्द्रिक सुख साधनों को जुटाने का मार्ग बतलाती है किन्तु बुद्धि तीक्ष्ण हुई और मन में वैराग्य का उदय हुआ तो बुद्धि अन्दर बैठकर आत्मा तत्त्व को ढूंढने में प्रवृत्त होती है। बुद्धि प्रधान मानव के लिए वेद, शास्त्र तथा गीता ने ज्ञान मार्ग निर्धारित किया है। ज्ञान पथ सर्व सुलभ नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है कि ज्ञान क पंथ कृपाण क धारा। परत खगेशन लागहिंबारा। ज्ञान का मार्ग तलवार की धारा है। बुद्धि को निर्मल तथा इस योग्य बनाने के लिए कि वह ज्ञान गंगा की ओर तक पहुँच सके मन की प्रधान वृत्ति श्रद्धा के सहयोग की आवश्यकता होती है। बगैर श्रद्धा के बुद्धि का संपूर्ण ज्ञान कोरा है, शुष्क है और कोरे तर्क पर आधारित है। यदि यह मान लें कि केवल ज्ञान से ही मानव परम तत्त्व को पा सकता है तो लाखों करोड़ों मनुष्यों का क्या होगा जिनके पास तीक्ष्ण बुद्धि नहीं है। वे किस पथ से चलें कि वे भी ब्रह्मानन्द का मज़ा लूट सकें। उन्हीं के लिए प्राचीन समय से हमारे देश में भक्ति मार्ग प्रचलित है। भक्ति का लक्षण शांडिल्य सूत्र में इस प्रकार दिया हुआ है :—"सा परानुरक्ति रीश्वरे" ईश्वर के प्रति जो अनन्य प्रेम है उसे ही भक्ति कहते हैं। भक्ति श्रद्धा प्रसूत है। श्रद्धा मन की एक उदात्त और सुसंस्कृत वृत्ति है जो अपने से श्रेष्ठ जनों गुरु, माता और पिता में होती है। यही वृत्ति जब ईश्वर के प्रति उमड़ चलती है जो सृष्टि का मूल आदि तत्त्व है, सर्व व्यापक है तो उसे ईश्वर भक्ति कहते है। भागवत पुराण में कहा गया है कि वह प्रेम निर्हेतुक, निष्काम और

निरंतर होना चाहिए । 'अहेतुक्य व्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे'। हेतु से, किसी कामना से जो भक्ति की जाती है उसे राजसिक कहते हैं। उससे चित्त शुद्धि नहीं हो सकती ! चित्त शुद्धि पूरी पूरी न होने से मोक्ष एवं ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। अध्यात्मशास्त्र प्रतिपादित पूर्ण निष्कामता का तत्त्व भक्ति में भी बना रहता है। किसी अर्थ के लिए जो परमेश्वर की भक्ति करते हैं वे निम्न कोटि के हैं और जो अपने लिए कुछ नहीं चाहते और निष्काम भाव से ईश्वर की भक्ति करते हैं—वे भक्तों में श्रेष्ठ हैं। भगवान पुराण में भक्ति नौ प्रकार की बतलाई गई है :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं बन्दनं दास्यं सख्यंआत्मनिवदेनम् ॥

भगवान का कीर्तन, गुणानुवाद सुनना, कीर्तन करना, अर्चन, वन्दन दास भाव, सखी भाव तथा पूर्ण आत्म निवेदन। बुद्धि केवल भले, बुरे, धर्म, अधर्म, कर्म-अकर्म का निर्णय करती है। शेष काम तो मन को ही करना पड़ता है। उपनिषदों में जिस श्रेष्ठ परब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया गया है वह इन्द्रियातीत, अव्यय, अनंत, निर्गुण और एकमेवाद्वितीय है। इसलिए उपासना का आरंभ उस स्वरूप से नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्म अंतिम साध्य वस्तु है, साधन नहीं। और जब तक किसी न किसी साधन से निर्गुण ब्रह्म के साथ एक रूप होने की पात्रता मन में न आवे तब तक इस श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतएवं साधन की दृष्टि से की जानेवाली उपासना के लिए जिस ब्रह्मस्वरूप को स्वीकार करना होता है वह दूसरी श्रेणी का अर्थात् उपास्य और उपासक के भेद से मन को गोचर होने वाला यानी सगुण होता है। इसीलिए उपनिषदों में जहाँ जहाँ ब्रह्म की उपासना कही गई है वह यद्यपि अव्यक्त और निराकार है तथापि सगुण रूप से ही इसका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—शांडिल्य विद्या में जिस ब्रह्म की उपासना कही गई है वह यद्यपि अव्यक्त और निराकार है तथापि छान्दोग्य उपनिषद में कहा है कि वह प्राण, शरीर, सत्य संकल्प, सर्व गन्ध, सर्वरस, सर्व काम और मन को

गोचर होने वाला सर्वगुणों से युक्त है। यहाँ उपास्य ब्रह्म यद्यपि सगुण है तथापि वह अव्यक्त और निर्गुण है। मन का यह सहज धर्म है कि वह साकार या सगुण वस्तु पर ही ठहरता है। इस विषय पर योगवाशिष्ठ में एक श्लोक है :—

अक्षरावगम लब्धये स्थूल वर्तुल दृषत्परिग्रहः ।
शुद्ध बुद्धि परिलब्धये तथा दारुमय शिलामयार्चनम् ।

"अक्षरों का परिचय कराने के लिए लड़कों के सामने जिस प्रकार छोटे-छोटे कंकड़ रखकर अक्षरों का आकार दिखाना पड़ता है। उसी प्रकार नित्य शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान होने के लिए लकड़ी, मिट्टी या पत्थर की मूर्ति का स्वीकार किया जाता है"।

पहले किसी व्यक्त पदार्थ के देखे विना मनुष्य के मन में अव्यक्त की कल्पना जाग्रत ही नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ—जब हम लाल हरे इत्यादि अनेक व्यक्त रंगों के पदार्थ पहले आँखों से देख लेते हैं तभी रंग की सामान्य और अव्यक्त कल्पना जागृत होती है। यदि ऐसा न हो तो रंग की यह अव्यक्त कल्पना हो ही नहीं सकती। अब चाहे कोई इसे मनुष्य के मन का स्वभाव कहे या दोष; कुछ भी कहा जाय, जब तक देहधारी मनुष्य अपने मन के इस स्वभाव को अलग नहीं कर सकता तब तक उपासना के लिए निर्गुण से सगुण में—और उसमें भी अव्यक्त सगुण की अपेक्षा व्यक्त सगुण में ही आना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। यही कारण है कि व्यक्त उपासना का मार्ग अनादि काल से प्रचलित है। राम तापनीय आदि उपनिषदों में मनुष्य देहधारी व्यक्त स्वरूप की उपासना का वर्णन है।

उपनिषदों में भक्ति का अंकुर मिलता है। छान्दोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में यह कहा गया है कि परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्म चिंतन अत्यन्त आवश्यक है और यह चिंतन, मनन और ध्यान करने के लिए चित्त एकाग्र होना चाहिए और चित्त एकाग्र करने के लिए परब्रह्म का कोई न कोई सगुण प्रतीक पहिले नेत्रों के सामने रखना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मोपासना करते रहने से चित्त की जो एकाग्रता प्राप्त हो जाती है उसी को

विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। और चित्त निरोध रूपी योग एक जुदा मार्ग हो गया। और जब सगुण प्रतीक के बदले परमेश्वर के मानवरूपधारी व्यक्त प्रतीक की उपासना का आरंभ धीरे धीरे होने लगा तब अंत में भक्ति मार्ग का उदय हुआ। यह भक्ति मार्ग औपनिषदिक ज्ञान से अलग बीच में ही स्वतन्त्र रीति से प्रादुर्भूत नहीं हुआ है और न भक्ति की कल्पना हिन्दुस्तान में किसी अन्य देश से आई है। सब उपनिषदों का अवलोकन करने से यह क्रम दिखाई पड़ता है कि पहले ब्रह्म चिंतन के लिए यज्ञ के अंगों की अथवा ॐकार की उपासना थी। आगे चलकर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओं की अथवा आकाशादि सगुण व्यक्त प्रतीक की उपासना का आरंभ हुआ और अंत में इसी हेतु अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के लिए ही राम, नृसिंह, श्री कृष्ण, वासुदेव आदि की भक्ति अर्थात् एक प्रकार की उपासना जारी हुई। उपनिषदों की भाषा से यह बात साफ़ साफ़ मालूम होती है कि उनमें योग तत्त्वादि विषयक उपनिषद तथा नृसिंहतापनी, रामतापनी आदि उपनिषद छान्दोग्यादि उपनिषदों की अपेक्षा अर्वाचीन है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना पड़ता है कि छान्दोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में वर्णित कर्म, ज्ञान अथवा संन्यास और कर्म समुच्चय – इन तीनों दलों के प्रादुर्भूत हो जाने पर ही आगे योग मार्ग और भक्ति मार्ग को श्रेष्ठता प्राप्त हुई है। गीता औपनिषदिक ज्ञान का अर्थात् वेदान्त का स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं है—उसमें भागवत धर्म का प्रतिपादन किया गया है। भागवत धर्म के ही नारायणीय, सात्वत, पांचरात्र धर्म आदि अन्य नाम हैं। भागवत धर्म पर गीता के अतिरिक्त ये ग्रन्थ वर्तमानकाल में उपलब्ध हैं। महाभारतान्तर्गत शान्ति पर्व के १८ अध्यायों में निरूपित नारायणीयोपाख्यान, शांडिल्यसूत्र, भागवतपुराण, नारद पांचरात्र, नारदसूत्र, तथा रामानुजाचार्य के ग्रन्थ। भागवतपुराण और नारद पांचरात्र ग्रन्थों में बुद्ध को विष्णु का अवतार कहा गया है। इस नारायणीयोपाख्यान में ऐसा वर्णन आता है कि नर तथा नारायण जो परब्रह्म ही के अवतार हैं, नामक दो ऋषियों ने नारायणीय अर्थात् भागवत धर्म को पहिले पहिल जारी किया। और उनके कहने से जब नारद ऋषि श्वेत द्वीप को गए तब वहाँ

भगवान ने स्वयं नारद को इस धर्म का उपदेश किया। भगवान जिस श्वेत द्वीप में रहते हैं वह क्षीर समुद्र है। और वह क्षीर समुद्र मेरु पर्वत के उत्तर में है इत्यादि नारायणीयोपाख्यान की बातें प्राचीन पौराणिक ब्रह्माण्ड वर्णन के अनुसार ही है। भागवत धर्म का उदय उपनिषदों के ज्ञान के बाद और बुद्ध के पूर्व हुआ। विद्वानों ने यह निश्चित किया है कि १४०० ई० पू० भारतीय युद्ध और पांडव हुए होंगे। श्रीकृष्ण का अवतार काल भी यही है। और इसी काल को स्वीकार करने पर यह बात सिद्ध होती है कि श्रीकृष्ण ने भागवत धर्म को ईसा से लगभग १४०० वर्ष पूर्व अथवा बुद्ध से लगभग ८०० वर्ष पूर्व प्रचलित किया होगा। इस प्रकार श्रीकृष्ण का समय निश्चित कर लेने पर उसी को भागवत धर्म का उदय काल मानना भी प्रशस्त और सयुक्तिक होगा। वैदिक धर्म के इतिहास में भागवत धर्म ने जो अत्यन्त महत्वपूर्ण और स्मार्त धर्म से भिन्न कार्य किया वह यह है कि उस भागवत धर्म ने कुछ क़दम आगे बढ़कर केवल निवृत्ति की अपेक्षा निष्काम कर्म प्रधान प्रवृत्ति मार्ग (नैष्कर्म्य) को अधिक श्रेयस्कर ठहराया। और केवल ज्ञान से ही नहीं; किन्तु भक्ति से भी कर्म का उचित मेल करा दिया। इस धर्म के मूल प्रवर्तक नर और नारायण ऋषि सब काम निष्काम भाव से करते थे। नारायणीय आख्यान में तो भागवत धर्म का लक्षण स्पष्ट बतलाया है कि 'प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः'। अर्थात् नारायणीय या भागवत धर्म कर्म प्रधान है।

अव्यक्त परब्रह्म की उपासना कठिन है—इसे गीता स्वीकार करती है:—

क्लेशोऽधिकतरेषां अव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ गीता० १२-५

अर्थात् अव्यक्त में चित्त की एकाग्रता करनेवाले को बहुत कष्ट होते हैं; क्योंकि इस अव्यक्त गति को पाना देहेन्द्रियधारी मनुष्य के लिए स्वभावतः कष्टदायक है।

अव्यक्त, निर्गुण परब्रह्म में मन को लगाने के लिए श्रद्धा और प्रेम की भी ज़रूरत पड़ती है। उपास्य ब्रह्म का अव्यक्त के बदले व्यक्त, विशेषतः

देहधारी रूप स्वीकृत किया जाता है तभी वह भक्ति मार्ग कहलाता है। ज्ञान और भक्ति दो मार्ग हैं; किन्तु दोनों का फल एक ही है। दोनों ही मार्ग से ब्रह्म की प्राप्ति होती है और मानसिक साम्यावस्था उत्पन्न होती है। गीता में दोनों का अध्यात्म नाम दिया गया है। जब दिल दिलदार से मिलने के लिए व्याकुल और अधीर हो जाता है तब हृदय में भक्ति की सरिता उमड़ पड़ती है और वह ज्ञान सागर में जाकर विलीन हो जाती है। भक्ति साधन है साध्य नहीं। भक्ति का पर्यवसान या फल ज्ञान है; भक्ति ज्ञान का साधन है, वह कुछ अंतिम साध्य नहीं। भक्ति को निष्ठा नहीं कहा गया है। निष्ठा तो दो ही हैं (१) सांख्य (२) कर्म। प्राचीन उपनिषदों में ज्ञान का ही विचार किया गया है और शांडिल्य आदि सूत्रों में और भागवतादि ग्रन्थों में भक्ति की ही महिमा गाई गई है। परन्तु साधन दृष्टि से भक्ति मार्ग ज्ञान मार्ग में योग्यतानुसार भेद दिखलाकर अंत में दोनों का मेल निष्काम कर्म के साथ जैसा गीता में सम बुद्धि से किया गया है वैसा किसी भी प्राचीन धर्म ग्रन्थ में नहीं मिलता।

ब्रह्म निगुण है, अचिंत्य है, अगोचर और अज्ञेय है। और उसकी प्राप्ति मानव का चरम उद्देश्य है। तो फिर उसे कैसे प्राप्त करें ? उसकी प्राप्ति के लिए ज्ञानी पुरुषों के लिए विचार, चिंतन और मनन साधन है; किन्तु सर्व साधारण के लिए उपासना या भक्ति का मार्ग ही सरल और सुगम है। जहां उपासना है वहां द्वैत है। उपासना में दो पक्ष हैं। (१) उपास्य (२) उपासना। उपास्य का सगुण रूप होना आवश्यक है। भक्त चाहता है कि वह ईश्वर, हमारे साथ बोले, हम से प्रेम करे, क्षमा करे। माता पिता के समान रक्षक हो। भगवान कृष्ण ने ६वें अध्याय में १७वें और १८वें श्लोक में स्वयं कहा है कि :—

> **पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः।**
> **वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम ययुरेवच॥**
> **गति र्भर्ता प्रभु; साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।**
> **प्रभवःप्रलयं स्थानं निधानं वीजमव्ययम्॥**

अर्थात् मैं ही संपूर्ण जगत का धारण करने वाला पिता और पितामह

हूँ। सब का स्वामी, साक्षी और मित्र हूँ। भक्त भगवान में नाना प्रकार के उदात्त मानवीय गुणों जैसे—दया, करुणा, प्रेम आदि का आरोप परमेश्वर में करके उसे सगुण रूप प्रदान करता है। परमेश्वर सर्व व्यापक है; किन्तु वह सगुण रूप में मर्यादित क्यों हो गया? इसका उत्तर संत तुकाराम ने एक पद्य में दिया है जिसका आशय इस प्रकार है:—

रहता है सर्वत्र ही व्यापक एक समान।
पर निज भक्तों के लिए छोटा है भगवान॥

प्रतीक उपासना परमेश्वर की ओर झुकने के साधन हैं। प्रतीक में जैसा हमारा भाव होगा ठीक उसी के अनुरूप हमारी भक्ति का फल परमेश्वर, प्रतीक नहीं हमें दिया करता है। सच्ची भक्ति के लिए जो सर्व प्रथम आवश्यक वस्तु है वह है श्रद्धा। "श्रद्धा मयोऽयं पुरुषों यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" मनुष्य श्रद्धामय है। प्रतीक कुछ भी हो; परन्तु जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसी के अनुरूप उसे फल की प्राप्ति होती है। भगवान गीता में कहते हैं कि जो अनन्य भाव से मेरा चिंतन करता है उस पुरुष के योग क्षेम का वहन मैं करता हूँ। गीता में वैदिक देवताओं को भी स्वीकार किया गया है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपासना का विधान किया गया है।

भगवान कहते हैं कि जो दूसरे देवताओं को भजते हैं वे भी मेरी ही उपासना करते हैं। जो मुझे जिस प्रकार भजता है मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ।

यह सिद्धान्त हमारे सब शास्त्रकारों को मान्य है कि फल हमारे भाव में है प्रतीक में नहीं। लौकिक व्यवहार में मूर्ति पूजा करने के पहिले उसकी प्राण प्रतिष्ठा करने की जो रीति है उसका भी रहस्य यही है। देव भाव का ही भूखा है नाम का नहीं।

भगवान ने गीता में भक्ति के सम्बन्ध में यह प्रतिज्ञा की है:—

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यो सम्यग् व्यवसितोहि सः॥

क्षिप्रंभवति धर्मात्मा शाश्वतच्छान्तिं निगच्छति ।
कौंतेय प्रति जानीहि नमे भक्तः प्रणश्यति ॥

अर्थात् यदि कोई बड़ा भारी दुराचारी है; किन्तु अनन्य भाव से मेरी भक्ति करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिए। शीघ्र ही वह धर्मात्मा हो जाता है। हे अर्जुन ! निश्चयपूर्वक यह सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

दसवें अध्याय में भगवान ने प्रकृति के विशिष्ट और विभिन्न रूपों में अपने ही को बतलाया है। जैसा कि भगवान कहते हैं कि आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में सूर्य, वायु देवताओं में मरीचि, रुद्रों में शंकर और यक्ष और राक्षसों में धन कुबेर, महर्षियों में भृगु, वृक्षों में पीपल, दैत्यों में प्रह्लाद और शस्त्रधारियों में राम मैं हीं हूं। भगवान आगे कहते हैं कि:—

'यद्यद्विभूति मत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवाव गच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ १०-४१

अर्थात् जो जो विभूति युक्त, कान्ति युक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस उसको तू मेरे ही अंश से उत्पन्न हुई जानो।

१० वें अध्याय में भगवान की विशिष्ट शक्तियों एवं विभूतियों की अभिव्यक्ति जिन जिन पदार्थों में हुई है उनकी उपासना का आदेश है। ११ वें अध्याय में भगवान के विराट रूप का वर्णन है। संपूर्ण विश्व भगवान का ही रूप है।

श्रद्धा और प्रेम मन की वृत्तियां हैं। ये अन्धी होती हैं। बुद्धि के योग से इन वृत्तियों को उचित स्थान पर रखा जा सकता है। कोरे तर्क या शुष्क ज्ञान से परम सत्य का आकलन नहीं हो सकता। बुद्धि के साथ श्रद्धा का होना ज़रूरी है। और श्रद्धा के साथ बुद्धि का होना भी ज़रूरी हैं। कहाँ श्रद्धा रखनी और कहाँ नहीं रखनी—इसका विवेक तो होना ही चाहिए। श्रद्धा विरहित ज्ञान को तामस कहा है। उससे अहंकार की वृद्धि होती है। वह विवेक रहित श्रद्धा अन्ध कूप में गिरानेवाली होती है।

गीता धर्म का यह सिद्धान्त है कि जब भक्ति मार्ग में भी कोई भक्त

एक बार भी अपने तई ईश्वर को सौंप देता है तो भगवान स्वयं उसकी निष्ठा को बढ़ाते चले जाते हैं और अन्त में अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करा देते हैं।

इसी ज्ञान से—न कि केवल कोरी और अन्धश्रद्धा से—भगवद्भक्त को अन्त में पूर्ण सिद्धि मिल जाती है। भक्ति मार्ग से ऊपर चढ़ते चढ़ते अन्त में जो स्थिति प्राप्त होती है वह और ज्ञान मार्ग से प्राप्त होने वाली ब्राह्मी स्थिति एक ही है। दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ पुरुष की जो परिभाषा बतलाई गई है वही परिभाषा १२वें अध्याय में १३ वें से लेकर २० वें श्लोक तक में भक्तिमान पुरुष की बतलाई गई है। स्थितप्रज्ञ और भक्तिमान पुरुष की एक ही मानसिक स्थिति है। इससे यह बात प्रकट होती है कि यद्यपि आरंभ में ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग भिन्न हों; तथापि जब कोई अपने अधिकार भेद से ज्ञानमार्ग से चलने लगता है तब अंत में दोनों मार्ग एकत्र मिल जाते हैं। और जो गति ज्ञानी को प्राप्त होती है वही भक्त को भी मिलती है। इन दोनों मार्गों में भेद सिर्फ़ इतना ही है कि ज्ञान मार्ग में आरंभ ही से बुद्धि के द्वारा परमेश्वर स्वरूप का आकलन करना पड़ता है और भक्ति मार्ग में यही स्वरूप श्रद्धा की सहायता से ग्रहण कर लिया जाता है। भगवान स्वयं कहते हैं कि :—

श्रद्धावानलभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिं अचिरेणाधिगच्छति ॥ ४. ३९ ॥

अर्थात् श्रद्धावान पुरुष इन्द्रिय संयम द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है और तब उसे ब्रह्मात्मैक्य रूप ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र पूर्ण शान्ति मिल जाती है। गीता में चौथे अध्याय के ४० वें श्लोक में साफ़ साफ़ कह दिया है कि "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।" अर्थात् जो अज्ञानी है और श्रद्धारहित है—ऐसे संशय युक्त पुरुष का नाश अवश्यम्भावी है।

गीता में भक्ति और ज्ञान का अपूर्व समन्वय हुआ है। अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा नाम रूप से

आच्छादित है। इसलिए अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से हम ऐसा कहते हैं कि जो आत्मा मुझ में है वही सब प्राणियों में भी है। 'सर्व भूतस्थ मात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।" गीता ६, २६। सब भूतों में एक ही आत्मा और आत्मा में सब भूत हैं। परन्तु भक्ति मार्ग में अव्यक्त परमेश्वर को व्यक्त परमेश्वर का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। 'वासुदेव सर्वमिति'। सब संसार भगवान स्वरूप ही है। श्री गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है कि, "सियाराम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि युग पाणी॥" अर्थात् सभी संसार को सियाराम मय समझ कर हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ। भक्त संपूर्ण संसार को प्रभुमय देखता है। अणु अणु में उसी विभू की झाँकी पाता है। और आनन्द विभोर हो मस्त हो जाता है। भागवत पुराण में भगवद्भक्त का लक्षण इस प्रकार कहा गया है :—

सर्व भूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येव भगवतोत्तमः॥

अर्थात् जो अपने में यह भेद नहीं रखता कि भगवान अलग हैं और मैं अलग हूँ और सब लोग अलग हैं; किन्तु जो सब प्राणियों के विषय में यह भाव रखता है कि भगवान और मैं दोनों एक हूँ और सब प्राणी भगवान में हैं और मुझ में भी हैं वही सब भागवतों में श्रेष्ठ है।

अध्यातम शास्त्र में कहा गया है कि कर्म का क्षय ज्ञान से होता है; किन्तु भक्ति मार्ग का यह तत्त्व है कि सगुण परमेश्वर के सिवा इस जगत में कुछ नहीं है। वही ज्ञान है। वही कर्म है। वही ज्ञाता है। वही करनेवाला, करानेवाला और फल देनेवाला भी है। कर्त्ता, धर्ता, विधाता सब वही है। सब कुछ उसी की प्रेरणा से होता है। विना उसकी मर्ज़ी के पत्ता तक नहीं हिल सकता। कठोपनिषद में भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपतिसूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥

अर्थात् उसी के भय से अग्नि जलती है, सूर्य तपता है, उसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु भी दौड़ती है।

भगवान अर्जुन से कहते हैं कि:—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्पस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

अर्थात् जो कुछ तू करता है, जो कुछ तू खाता है, जो हवन करता है, जो देता है, जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर ।

भागवत में भी इसी समर्पण भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वाबुद्ध्यात्मनावाऽनसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्यै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

काया, वाचा, मनसा, बुद्धि, इन्द्रिय या आत्मा की प्रवृत्ति से अथवा स्वभाव के अनुसार जो कुछ हम किया करते हैं वह सब नारायण को समर्पण कर दिया जावे । भगवद्भक्त खाना, पीना, संपूर्ण जगत का व्यवहार कृष्णार्पण बुद्धि से किया करता है ।

गीता में जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाने पर निष्काम भाव से ज्ञानी के लिए कर्त्तव्य कर्म करने का विधान किया गया है, उसी प्रकार भक्तिमान पुरुष के लिए भी प्राप्त कर्त्तव्य कर्म करने का स्पष्ट आदेश है । गीता को किसी भी अवस्था में निष्क्रियता मान्य नहीं है । समत्व बुद्धि, समर्पण भाव और स्वधर्म पालन के लिए गीता धर्म का उदय हुआ है । ज्ञानी में ज्ञान की प्रधानता होती है । भक्त में भावना और प्रेम की । भक्त का हृदय सरल, सरस और विशाल होता है । उसमें प्रेम की स्वच्छन्द अविरल धारा प्रवाहित होती रहती है । वह परम कारुणिक और दया का समुद्र होता है । वह सर्वथा अपने को भूला रहता है । और चूंकि वह सब प्राणियों को परमेश्वर स्वरूप ही समझता है, इसलिए समभाव से सबकी सेवा में रत रहता है । दीन दुःखियों के आर्त्तनाद को सुनकर उसका हृदय आकुल हो उठता है । और वह उनकी सेवा के लिए दौड़ पड़ता है । 'परोपकाराय सतां विभूतयः ।' परोपकार के लिए ही संतोंका जन्म हुआ करता है । जब भगवान स्वयं दुष्टों के दलन तथा धर्म की स्थापना के लिए समय समय पर अवतार लेते हैं तो उनके भक्तों को भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करना उचित है । भगवद्भक्त

को जब भक्ति की अनन्य साधना से परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उसे अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रहता; किन्तु उसके हृदय की प्रेम मूलक भक्ति की साधना से दया, करुणा, कर्त्तव्य; प्रीति इत्यादि मनोवृत्तियाँ और भी शुद्ध हो जाती हैं फिर तो वह दीन दुःखियों और उपेक्षित प्राणियों को गले लगाने तथा उन्हें अपनाने के लिए दौड़ पड़ता है। भगवद्भक्त तो उसे ही कहना चाहिए जिसके मन में ऐसा अभेदभाव उत्पन्न हो जाय। किसी कवि ने कहा है :—

जिसका कोई न हो हृदय से उसे लगावे,।
प्राणिमात्र के लिए प्रेम की ज्योति जगावे।
सब में विभुको व्याप्त जान सबको अपनावे,
है बस ऐसा वही भक्त की पदवी पावे॥

भक्ति में ऊंच नीच का भेद नहीं, जाति पांति का बन्धन नहीं। स्त्री और शूद्र सब के लिए भक्ति का दरवाजा समान रूप से खुला है। संत तुकाराम ने भक्त की परिभाषा इस प्रकार की है कि जो विभक्त नहीं सो भक्त। अर्थात् जो अपने प्रियतम के साथ मिलकर एक हो गया है और जिसका संपूर्ण भेदभाव नष्ट हो गया है वही भक्त है। जो परमेश्वर और उसकी चराचर सृष्टि को अभेद दृष्टि से देखता है वही भक्त है। भगवान गीता में साफ़ कहते हैं—

मांहि पार्थ व्यपाश्रित्य ये ऽपिस्युः पाप योनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।

हे पार्थ। स्त्री, वैश्य, शुद्र तथा जो नीच कुल में उत्पन्न हुए हैं वे सब मेरी शरण में आने से अथवा मेरी भक्ति करने से उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। महाभारत में व्याध और तुलाधार की कथा प्रसिद्ध है। वे सब ज्ञानी भक्त थे। व्यवसाय से मनुष्य की श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं होती। प्रायः हर युग में समाज में निम्नश्रेणी के ऐसे पुरुष हो गये हैं जो अपने ज्ञान, भक्ति और निर्मल चरित्र से समाज में पूज्य और मान्य हुए। इससे प्रकट होता है कि जिसकी बुद्धि सम हो जावे वह श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह सुनार हो, बढ़ई हो, चमार हो,

बनिया हो या कसाई हो किसी भी पुरुष की योग्यता उसके व्यवसाय, धन्धे या उसकी जाति पर निर्भर नहीं करती है। गीता ने समाज के सभी श्रेणी के लोगों के लिए मोक्ष का दरवाज़ा खोल दिया है। दैव भाव का भूखा है। परमेश्वर के लिए क्या चाण्डाल; क्या ब्राह्मण, क्या स्त्री सभी समान हैं। साधु तुकाराम कहते हैं कि :—

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईश को वेश्या भी भज सकती है,
श्वपचों को भी भक्ति भाव में शुचिता कब तज सकती है।
कहता हूँ अनुभव से मैंने उसे कर लिया है वश में,
जो चाहे सो पिये प्रेम से अमृत भरा है उस रस में।

बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म में भी भक्ति का दरवाजा सभी श्रेणी के लोगों के लिए खुला है। बुद्ध ने अम्रपाली नामक वेश्या को तथा पच्कौड़ी नामक डाकू को दीक्षा दी थी। ईसा मसीह ने भी एक स्थान पर कहा है कि मेरे धर्म में श्रद्धा रखने वाली वेश्यायें भी मुक्त हो सकती हैं।

भगवान ने गीता के अठारहवें अध्याय में भक्ति का सार तत्त्व प्रतिज्ञा पूर्वक बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। वह यह है कि :—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यः मोक्षयिष्यामि माशुचः।

अर्थात् तू सब धर्मों को छोड़कर अकेले मेरी शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। डरो मत। यही आश्वासन भगवान अर्जुन के निमित्त सभी लोगों को देते हैं। भगवान की शरणागति में सांसारिक जीवन की सङ्गति है।

चौथा अध्याय

कर्मयोग मार्ग

कर्म शब्द कृ धातु से बना है जिसका अर्थ है करना, व्यापार, हलचल। और इसी सामान्य अर्थ में गीता में कर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह संपूर्ण सृष्टि एक बड़ा कारख़ाना है और इसमें प्रत्येक प्राणी कर्म कर रहा है, हल-चल करता और व्यापार करता है। सांख्यमतानुसार यह सृष्टि पुरुष और प्रकृति के संयोग से बनी हुई है। पुरुष साक्षी है, द्रष्टा है; किन्तु प्रकृति के संयोग से सृष्टि का व्यापार प्रारंभ होता है। पुरुष निष्कर्म है। उसमें हलचल नहीं। सारी कर्तृत्व शक्ति प्रकृति में है। कर्म प्रकृति का स्वभाव है। गीता में भी यह सिद्धान्त मान्य है कि—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कार विमूढ़ात्मा कर्त्ताहम मितिमन्यते॥

संपूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये गये हैं। कर्म से ही विश्व का व्यापार चलता है। खाना, पीना, उठना, बैठना, सोना, चलना, बोलना, देखना, सोचना आदि सभी इन्द्रियों के व्यापार कर्म ही हैं। कर्म से ही हम जीवन धारण किए हुए हैं। भगवान् ने तीसरे अध्याय में अर्जुन से कहा है कि:—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

अर्थात् कोई भी पुरुष एक क्षण भी बिना कर्म के नहीं रह सकता। सभी प्रकृति के गुणों द्वारा अवश होकर कर्म करते हैं। यदि चाहें भी तो कर्म का त्याग नहीं कर सकते। कर्म का सिद्धान्त अचल और अटल है।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य तो ज्ञान स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति ही है। इसीलिए मनुष्य का जीवन है। हम इसीलिए जीते हैं कि उस जीवनाधार

ब्रह्म की सत्ता की अनुभूति कर दुःख शोक से परे हो जायँ। इसी के लिए हमारे सारे प्रयत्न और सारी चेष्टायें हैं। उस परब्रह्म की प्राप्ति के लिए हमने ज्ञान और भक्ति योग का उल्लेख किया है। अब इस प्रकरण में हम गीता प्रतिपादित कर्मयोग की चर्चा करेंगे। पूर्व इसके कि कर्मयोग पर विचार किया जाय, सामान्य मानव कर्म का विचार कर लेना उचित होगा।

हम जो कर्म करते हैं उसका कोई न कोई हेतु अवश्य होता है। अब हमें देखना है कि हम कर्म क्यों करते हैं? पशु, पक्षी तथा मनुष्येतर प्राणी भी सतत कर्म करते हैं। चींटी और मधुमक्खी को भी हम एक क्षण के लिए आराम करते नहीं देखते। मधुमक्खी फूलों से रस चयन करने में मशगूल रहती है। चींटी अपने चारे की तलाश में अविश्रान्त गतिशील रहती है। पक्षी अपने आहार के लिए यहां से वहाँ और वहाँ से यहाँ उड़ता नज़र आता है। मानव भी आत्म रक्षा के लिए नाना प्रकार के व्यापार धन्धा करता है। आत्म रक्षा या जीवन धारण भी किसी हेतु से है। मनुष्य भी संपूर्ण व्यापारों में इसी हेतु से प्रवृत्त होता है कि अंत में उसे सुख मिले। सुख ही उसका अन्तिम उद्देश्य है। कोई धन प्राप्ति के लिए दिन रात एक किये रहते हैं तो कोई यश के लिए काम करते हैं। शास्त्रों में कहा है कि मनुष्य में तीन मुख्य ऐषणायें या कामनायें होती हैं;—(१) पुत्रैषणा (२) वित्तैषणा और (३) यशैषणा। इन्हीं तीन ऐषणाओं से प्रेरित होकर वह काम करता है। सर्व प्रथम मनुष्य की यह इच्छा होती है कि वह अपनी और अपनी जाति की रक्षा करे, इसलिए वह विवाह करता है। गृहस्थी जमाता और अपनी जाति की रक्षा और वृद्धि में प्रवृत्त होता है। फिर वह धन पैदा करने में जुटता है। धन से उसकी तथा उसके कुटुम्बी जनों की इच्छायें पूर्ण होती हैं और इच्छा की पूर्ति में उसे सुख का अनुभव होता है। यश की कामना मनुष्य में बड़ी प्रबल होती है। यश की लालसा से ही मनुष्य बड़े बड़े दुर्धर्ष कर्म कर बैठता है। क्षत्रिय लड़ाई के मैदान में अपने आप को होम देता है। इस यश कामना में भी मूलतः मानव के अन्दर अमरत्त्व की भावना छिपी रहती है। इस यश की कामना से प्रेरित होकर मानव स्वाभिमान और आत्मगौरव का

बाना पहन कर समरांगण में जूझता है। इसमें आत्मा-प्रसारण (Self-expansion) की भावना काम करती है। गीता में भी भगवान ने युद्ध से विरत अर्जुन को युद्ध के लिए तैय्यार करने के लिए अयश का भय दिखलाया है और कहा है कि:—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ गीता २-२३

अर्थात् हे अर्जुन यदि तू इस धर्म युक्त संग्राम को न करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप का भागी बनेगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति ते व्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिं मरणादतिरुच्यते ॥

और सब लोग बहुत काल तक रहने वाली तुम्हारी अपकीर्ति को कहेंगे। और अपकीर्ति सम्मानी पुरुष के लिए मरने से भी बुरी होती है।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विचारक रस्किन ने कहा है कि:—

"Public fame is the fist infinmity of weak mind and last infinmity of noble mind, लोकयश की भावना निर्बल मन वाले पुरुष की तो प्राथमिक निर्बलता है और भद्र पुरुष की अंतिम निर्बलता है। यश की भावना मनुष्य के मन में बहुत गहरी गड़ी हुई रहती है।

कर्म का अविच्छिन्न प्रवाह अनादि काल से चला आता है। कोई भी कर्म चक्र से बच नहीं सकता। कर्मकाण्ड वैदिक साहित्य का एक मुख्य अंग है। वैदिक धर्म में यज्ञ याग ही ऐसे कर्म हैं जिनसे ईश्वर की प्राप्ति बतलाई गई है। यज्ञों के विस्तार के लिए एक अलग वेद यजुर्वेद की रचना हुई। जैमिनी के मतानुसार वैदिक और श्रौत यज्ञ याग करना ही प्रधान और प्राचीन धर्म है। महाभारत में भी यज्ञ का महत्त्व स्वीकार किया गया है। यज्ञ के लिए जो कुछ भी कर्म किया जाय वह सब उचित है। ऐसा कर्म बाँधने वाला नहीं होता। मीमांसकों के मतानुसार यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यज्ञ याग का वर्णन है। उपनिषदों में भी ये यज्ञ याग माने गए हैं; किन्तु

उनका दर्जा ब्रह्म ज्ञान से कम ठहराया गया है। गीता के तीसरे अध्याय में जो यज्ञ का वर्णन मिलता है वह वैदिक यज्ञ का ही वर्णन है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचार ॥

अर्थात् यज्ञ के अलावा जो और कर्म हैं वे बांधनेवाले हैं; किन्तु यहाँ भी जो यज्ञ करने को कहा गया है वह स्वर्ग प्राप्ति करने की कामना से नहीं; बल्कि असंग भाव से यज्ञ करने का आदेश है। यज्ञ को कर्म से हुआ बतलाया गया है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

कर्म को ब्रह्म से अर्थात् वेद से उत्पन्न हुआ जानो और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इसलिए सर्वव्यापी परमात्मा सदा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है।

वैदिक कर्मों के अनुसार चातुर्वर्ण्य के भेदानुसार दूसरे आवश्यक कर्म मनुस्मृति आदि धर्म ग्रन्थों में वर्णित हैं। स्मृतियों में इनका वर्णन होने से इन्हें स्मार्त कर्म या स्मार्त यज्ञ कहते हैं। इनके अतिरिक्त और भी धार्मिक कर्म बतलाए गये हैं। जैसे व्रत उपासना आदि। इनका विस्तृत वर्णन पहिले पहिल पुराणों में मिलता है इसलिए इन्हें पौराणिक कर्म कह सकते हैं। इन सब कर्मों के तीन भेद किए गए हैं। (१) नित्य (२) नैमित्तिक (३) काम्य। शौच, स्नान, सन्ध्या, वन्दन आदि नित्य करने वाले कर्म नित्य कर्म कहलाते हैं। नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं जिन्हें पहिले किसी कारण के उपस्थित हो जाने से करना पड़ता है जैसे अनिष्ठ ग्रहों की शान्ति और प्रायश्चित इत्यादि। जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलता के लिए शास्त्रानुकूल कर्म करते हैं तो उसे काम्य कर्म कहते हैं।

कर्म कैसे संभवित होता है—इस संबन्ध में एक बहुत ही सुन्दर श्लोक है :—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधाकर्म चोदना ।
कारणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः ॥

अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय से कर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। कर्त्ता, साधन और क्रिया इन तीनों के संयोग से कर्म बनता है। गीता में कर्म के तीन भेद किये गये हैं (१) सात्विक (२) राजसिक (३) तामसिक।

सात्विककर्म—नियतं संगरहितमराग द्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुनाकर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥१८-२३

जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ है, कर्त्तापन के अभिमान से रहित है अर्थात् अनासक्त भाव से किया गया है। फल को न चाहनेवाले पुरुष द्वारा विना रागद्वेष से किया हुआ जो कर्म है वह सात्विक कर्म कहलाता है।

राजसिक कर्म—यत्तुकामेप्सुना कर्म साहंकारेण वापुनः ।
क्रियते बहुलायस तद्राजसमुदाहृतम् ॥ १८. २४.

जो कर्म बहुत प्रयास से फल को चाहने वाले अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है वह कर्म राजस कहलाता है।

तामसिक कर्म—अनुबन्धं क्षयं हिंसा मनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामस मुच्यते ॥ १८. २५.

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरंभ किया जाता है वह कर्म तामस कहलाता है।

अध्यात्मशास्त्र में कर्मविपाक प्रकरण में कर्म के तीन मुख्य भेद पाये जाते हैं। (१) संचित (२) प्रारब्ध (३) क्रियमाण। संचित का अर्थ है इकट्ठा हुआ चाहे इस जन्म का हो या पूर्व जन्म का हो। संपूर्ण इकट्ठा किया हुआ कर्म संचित कहलाता है। इसी संचित का दूसरा नाम अदृष्ट और मीमांसकों की परिभाषा में इसका अपूर्व नाम है। सभी संचित कर्मों को एक ही समय नहीं भोग सकते। इन्हें एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा इस प्रकार क्रमशः भोगना पड़ता है। अतएव संचित कर्मों में से जितने कर्मों के फलों को भोगना पहिले शुरू होता है उतने ही को प्रारब्ध या संचित

आरब्ध कहते हैं। जो कर्म अभी हो रहा है या जो कर्म अभी किया जा रहा है उसे क्रियामाण कहते हैं।

गीता में अकर्म को सर्वथा हेय, त्याज्य बतलाया है। भगवान अर्जुन से कहते हैं कि:—

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येत्कर्मणः॥

हे अर्जुन! तू शास्त्र द्वारा निर्धारित कर्म को कर। क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है और कर्म नहीं करने से जीवन निर्वाह भी तो नहीं हो सकता। अकर्म निष्क्रियता मृत्यु है। कर्म या क्रिया जीवन है। जीवन के संपूर्ण कर्म को हम मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) सकाम (२) निष्काम (कामना रहित कर्म)। प्रारंभ में हम किसी न किसी कामना से प्रेरित होकर ही किसी न किसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इस विभाग को हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते है। (१) स्वार्थ पूर्ण (२) निस्स्वार्थ पूर्ण।

मनुष्य शरीर, इन्द्रियों (ज्ञान और कर्मेन्द्रियों दोनों) बुद्धि, मन और आत्मा का समुच्चय है। मन मालिक है और इन्द्रियाँ सेवक हैं। मन की आज्ञा पाकर इन्द्रियाँ कर्म में प्रवृत्त होती हैं। हम जो देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं उसकी तस्वीर मन में खिंच जाती है। हम जो अच्छी और बुरी बात सुनते हैं उसकी भी तस्वीर मानसिक पटल पर अंकित हो जाती है। इन्हें ही संस्कार कहते हैं। और मन क्या है? मन देखा जाय तो अच्छे और बुरे संस्कारों के सिवाय कुछ नहीं है। हमारे जैसे संस्कार होंगे वैसे ही हम कर्म करेंगे और जैसा हम करेंगे वैसा ही हमारा चरित्र बनेगा। अच्छे कर्म से अच्छा और बुरे कर्म से बुरा चरित्र बनता है। बुरा कर्म वह है जिससे अपना तो नुकसान हो ही और दूसरों का भी नुकसान हो। और अच्छा कर्म वह है जिससे अपना और दूसरे दोनों का लाभ हो। वेद में एक बड़ी सुन्दर प्रार्थना है:—

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम् देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

हे भगवान हम कानों से भद्र कल्याणकारी बातों को सुनें और नेत्र से

कल्याणकारी वस्तुओं को देखें जिससे हमारे संस्कार अच्छे बनें और हमारा चरित्र अच्छा और निर्मल बने।

मनुष्य का जीवन अच्छी और बुरी दोनों वृत्तियों से मिलकर बना हुआ है। संसार ही द्वन्दमय है। इसमें अच्छा भी है और बुरा भी। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है कि:—

जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

सृष्टि कर्त्ता ने इस सृष्टि को जड़, चेतन और गुण दोष से युक्त बनाया हैं। हंस रूपी संत विकार रूपी जल का परित्याग कर गुण रूपी दूध को ग्रहण कर लेते हैं।

बुरे कर्म की ओर जो प्रवृत्ति होती है उसे रोककर अच्छे काम में लगाना चाहिए जिससे मन पर बराबर अच्छे ही संस्कार पड़ें। और मन अच्छे संस्कारों से इस प्रकार लद जाय कि अच्छा कर्म करना मन का स्वभाव हो जाय। और बुरे कर्म की ओर मन जाये ही नहीं। इस प्रकार नित्य दृढ़ संकल्प द्वारा खाते, पीते, सोते, जागते लोकहित का चिंतन करे और परहित में निरत रहे। जो कर्म अपने ऐन्द्रिक सुख और अपनी स्वार्थमयी इच्छा की पूर्ति के लिए किये जाते हैं वे कर्म निम्नकोटि के हैं और वे लौह जंजीर के समान बांधने वाले हैं। अच्छे कर्म तो करे; किन्तु उससे भी आगे की भूमिका में मन को ले जाना पड़ेगा। जैसे यदि पैर में कांटा गड़ जाय तो दूसरे कांटे से उसे निकालते हैं और फिर दोनों कांटों को फेंक देते हैं। उसी प्रकार बुरी वृत्तियों को अच्छी वृत्तियों से सर्वथा निकालकर फिर अच्छी वृत्तियों के भाव को भी अलग कर सहज स्थिति (अनासक्त स्थिति) प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य हो जाता है। मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रता (Complete Independence) प्राप्त करना है। अच्छा और बुरा दोनों भाव बांधने वाले हैं तीनों गुण सत्व, रज और तम बांधने ही वाले हैं। इसीलिए गीता में भगवान ने कहा है कि :—

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन ।
निर्द्वन्दो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान ॥

हे अर्जुन संपूर्ण वेद तीनों गुणों के विषयों-से युक्त हैं-अर्थात् त्रिगुण के कार्य को प्रकट करने वाले हैं। इसलिए तू तीनों गुणों से रहित हो। द्वन्द से ऊपर उठो। नित्य वस्तु में स्थित रहने वाला, योग और क्षेम से बेपरवाह और आत्म निष्ठ हो।

कर्म करो; किन्तु फलाशा छोड़ कर अनासक्त भाव से करो। मन में जो आसक्ति—विषयों में लगाव है वही वास्तव में बिच्छू के डंक एवं सर्प के विषदन्त के समान जीव को काटता है। वही दुःख देने वाला है। कर्म तो स्वयं जड़ है। उसमें अच्छे और बुरे फल देने की शक्ति नहीं है। जिस वृत्ति या भावना से काम किया जायेगा उसी के अनुसार उसका फल भी मिलेगा। इसलिए फलाशा त्यागकर कर्त्तव्य कर्म करने का आदेश गीता में दिया गया है। यदि हम कोई अच्छा काम करते हैं और उसके बदले में हम कुछ अपने लिए चाहते हैं तो वह चाह ही आसक्ति पैदा करती है। फल की कामना से कर्म करने वाला पुरुष कृपण कहा गया है। ऐसा पुरुष दीन है, गुलाम है। वास्तव में आत्मा स्वामी है, मालिक है। संपूर्ण प्रकृति का खेल पुरुष के लिए होता है। इसलिए प्रकृति के खेल से अपने को मुक्त कर कर्म करने का उपदेश गीता में किया गया है।

भगवान कर्म के संबन्ध में अर्जुन के सामने अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट करते हैं :—

किं कर्म किं कर्मेति कवयोऽप्यऽत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्सेऽशुभात्। गी० ४. १६
कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः।
कर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ गी० ४. १७.
कर्मण्य कर्म यः पश्येद् कर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्न कर्मकृत॥ गी० ४. १८.

अर्थात् कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इस संबन्ध में बुद्धिमान

मनुष्य भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए हे अर्जुन ! कर्म तत्त्व तुझे भली प्रकार समझा कर कहूँगा जिसे जान कर तू अशुभ अर्थात् संसार बन्धन से छूट जायेगा। कर्म का स्वरूप जानना चाहिए और अकर्म का भी। अर्थात् कर्म क्या है, विकर्म क्या है और अकर्म क्या है—इन सब का स्वरूप जानना चाहिए। क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है।

कर्म में अकर्म को देखे। अर्थात् अनहंकार भाव से कर्म करते हुए भी उसमें अकर्म (कर्म का न होनापन) देखे। और अकर्म, निष्क्रियता में कर्म को देखे अर्थात् अज्ञानी द्वारा अहंभाव से त्याग किये गये अकर्म में कर्म को-कर्तापन के भाव को देखे वही मनुष्यों में बुद्धिमान है। वह योगी है और संपूर्ण कर्मों का करने वाला है। गीता के इस अन्तिम श्लोक में कर्म का सार तत्त्व भर दिया गया है। इसमें स्पष्ट बतला दिया गया है कि जो कर्म अहंकार रहित होकर सहज भाव से कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है वह मनुष्य को बाँधने वाला नहीं होता अर्थात् अहंकार रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य अकर्त्ता ही रहता है। और जो अहंकार भाव से कर्म छोड़ दिया जाता है अर्थात् जिस काम के छोड़ने में भी अहंकार भाव है वह अकर्म होता हुआ भी फलाशा से किये गये कर्म के समान फल को देने वाला है, इसीलिए भगवान चौथे अध्याय के १९ वें श्लोक में कहते हैं :—

'यस्यसर्वे समारंभाः काम संकल्प वर्जिताः।
ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणि तमाहुः पंडितं बुधाः॥

जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं अर्थात् जो कामना से रहित होकर काम करते हैं उनके कर्म को ज्ञान की अग्नि में भस्म हुआ ही समझो। अर्थात् उनमें शुभाशुभ फल देने की शक्ति नहीं होती। ऐसे ही पुरुष को ज्ञानी जन पंडित कहते हैं।

गीता का कर्म वैदिक कर्म अर्थात् काम्य कर्म नहीं है। गीता का कर्म वह कर्म है जो बन्धन का हेतु न होकर मोक्ष का हेतु है। इस युक्ति, विधि से या ढंग से काम करना जिससे मनुष्य कर्म बंधन में न फँसे। इसी को गीता में इस प्रकार कहा गया है:—'योगः कर्मसुकौशलम्'। कर्म करने में जो

कौशल है, चातुरी है वही योग है। सिद्धि और असिद्धि दोनों अवस्थाओं में समत्व बुद्धि रखना योग है।

ज्ञान की स्थिति को प्राप्त करने के लिए भी निष्काम कर्म का आश्रय लेना पड़ता है। प्रारंभ में निष्काम कर्म ज्ञान का, समत्व बुद्धि का साधन होता है। ज्ञानोत्तर स्थिति में दो निष्ठायें होती हैं जो वैदिक काल से चली आ रही हैं (२) सांख्य (२) कर्मयोग। भगवान ने कहा है कि:—

लोके स्मिन द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ।
ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम्॥

हे निष्पाप अर्जुन! प्राचीन काल में मुझसे दो प्रकार की निष्ठायें कही गई हैं। (१) ज्ञानियों की ज्ञान योग से और कर्म योगियों की निष्काम कर्म से।

साधना की परिपक्वावस्था का नाम निष्ठा है। ज्ञानयोग या कर्म योग मार्ग से जो अन्तिम अवस्था—स्थित प्रज्ञता प्राप्त होती है वह अध्यात्म शास्त्र में निष्ठा कहलाती है। माया से उत्पन्न हुये संपूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं ऐसा समझ कर और मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली संपूर्ण क्रियाओं में कर्त्तापन के अभिमान से मुक्त होकर पारब्रह्म परमात्मा परम तत्त्व में एक ही भाव से स्थित रहने का नाम ज्ञान योग है। इसी को संन्यास, सांख्य योग इत्यादि नामों से कहा गया है। फल और आसक्ति को छोड़कर ईश्वर प्रीत्यर्थ समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम निष्काम कर्मयोग है। इसी को गीता में समत्व योग, बुद्धि योग और कर्म योग कहा है।

व्यास जी ने महाभारत शुकानुप्रश्न के नीचे लिखे श्लोक में स्पष्टतया बतलाया है:—

द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन वेदाः प्रतिष्ठिताः
प्रवृत्ति लक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभाषितः॥

अर्थात् वेद में भी दो स्वतन्त्र मार्ग स्वीकार किये गये हैं (१) प्रवृत्ति मार्ग (२) निवृत्तिमार्ग। ये दोनों मार्ग प्राचीन काल से ही चले आते हैं। मनुष्य का अन्तिम ध्येय आत्मज्ञान प्राप्त करना अर्थात् अपने स्वरूप को

पहचानना माना गया है। आत्म-दर्शन अर्थात् अपने को देखना ही ब्रह्म दर्शन है। क्योंकि आत्मा व्यापक है, विभु है। उस ब्रह्म को जान लेने पर मनुष्य सब पाशों से मुक्त हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये चित्त को शुद्ध करना आवश्यक है। निष्काम कर्म अर्थात् अपनी स्वार्थ वासना का परित्याग कर परोपकार के कर्म में प्रवृत्ति रहने से चित्त का मल, विषयों में जो खिंचाव है, धुल जाता है और चित्त में आत्मा का प्रतिबिम्ब साफ़ साफ़ पड़ने लगता है। ब्रह्मज्ञान होने के पूर्व मनुष्य प्रकृति के वशीभूत होकर कर्म करेगा ही। वह बिना कर्म के रह ही नहीं सकता, मनुष्य तामसिक कर्म से आगे बढ़कर राजसिक कर्म करे फिर उससे आगे बढ़कर सात्विक कर्म में प्रवृत्त हो और उससे भी आगे जाकर त्रिगुणातीत बन जाय। आध्यात्मिक जगत में यही विकास की सीढ़ियाँ हैं। हाँ, संन्यासमार्गियों का यह मत है कि बिना कर्म संन्यास के, कर्म त्याग बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। और चूँकि संपूर्ण कर्म और यह सृष्टि वासना मूलक है। वासना के क्षय से कर्म का क्षय होता है। 'कर्मणा वद्धयते जन्तुः'। कर्म से ही प्राणी बन्धन में पड़ता है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म त्याग आवश्यक है और फिर मोक्ष प्राप्त हो गया तो क्यों और किस लिए कर्म करे। संन्यासमार्गियों का कथन है कि ज्ञानोत्तर अवस्था में सर्वथा कर्म संन्यास होना चाहिए। मनुजी भी महाराज कहते हैं कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वाणप्रस्थाश्रम के कर्त्तव्यों का यथाविधि पालन करते हुए चित्त को शुद्ध करे। इन आश्रमों में जो विहित कर्म हैं उनका यही उद्देश्य है कि विषयासक्ति अर्थात् स्वार्थपरायणबुद्धि छूटकर परोपकार बुद्धि इतनी बढ़ जावे कि प्राणियों में एक ही आत्मा को पहचानने की शक्ति प्राप्त हो जाय। और यह स्थिति प्राप्त हो जाने पर मोक्ष प्राप्ति के लिए अंत में स्वरूपतः सब कर्मों का त्याग कर संन्यास लेना चाहिए। श्री शंकराचार्य ने जिस संन्यास धर्म की स्थापना की है वह मार्ग यही है। कालिदास ने रघुवंश के आरंभ में ऐसे सूर्यवंशी राजाओं का वर्णन किया है जिन्होंने बाल्यकाल में विद्या-भ्यास, जवानी में विषय भोग संसार, उतरती अवस्था में मुनिवृत्ति धारण

किया और अंत में संन्यास लेकर मोक्ष प्राप्त किया है।

शैशवेभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनाम् योगेनान्ते तनुं त्यजाम् ॥

महाभारत के शुकानुप्रश्न में कहा है:—

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणी ब्रह्मलोके महीयते ॥

चार आश्रमों की यह चार सीढ़ियां ब्रह्मलोक तक जा पहुँचती हैं। आश्रम रूपी एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते हुए अंत में मनुष्य ब्रह्मलोक में श्रेष्ठ पद प्राप्त करता है। आगे महाभारत के शांति पर्व में इसी क्रम का वर्णन है:—

कषायं पाचयित्वाशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु।
प्रव्रजेच्च पर स्थानं पारिव्राज्य मनुत्तमम् ॥

इस जीने की तीन सीढ़ियों में मनुष्य अपने पाप को, अथवा विषयासक्ति रूपी दोष का शीघ्र क्षय करके फिर संन्यास ले ले। पारिव्राज्य या संन्यास ही सब में श्रेष्ठ स्थान है।

महाभारत के गोकापिलीय संवाद में कपिलने स्यूमरश्मि से कहा है:—

शरीर भक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ॥

अर्थात् सारे कर्म शरीर के रोग हैं। ये निकाल फेंकने के लिए हैं। ज्ञान ही सब में उत्तम और अन्त की गति है। जब कर्म से शरीर का कषाय अथवा अज्ञान रूपी रोग नष्ट हो जाता है तब रस ज्ञान की चाह उपजती है। पिंगलगीता में कहा है कि: "नैराश्यं परमं सुखं" निराशा ही परम सुख है। कैवल्योपनिषद में भी आया है कि: "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः" ।—न कर्म से, न संतति से और न धनसे; बल्कि त्याग से—सर्वसंन्यास से कुछ लोग अमृतत्त्व प्राप्त करते हैं। उपनिषद भिन्न भिन्न आध्यात्मिक तत्त्वों एवं विचारों का समुच्चय है। उपनिषद ज्ञान की महिमा उद्घोषित करते हैं। "ऋतेज्ञानान्मुक्तिः।" बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं। प्रज्ञान ही

ब्रह्म है। उपनिषद् में स्पष्ट आदेश है कि मन जभी संसार से विरक्त हो जाय तभी संन्यास लेकर परिब्राजक हो जाना चाहिए। "यद हरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे-द्वानाद्वा, गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्"। यह सांख्य या कर्म संन्यास मार्ग अनादि काल से चला आता है। याज्ञवल्क्य, शुकदेव और जड़भरत प्रभृति महात्मा इसी मार्ग से गये हैं। गीता कर्मसंन्यास मार्ग को स्वीकार करती है। ज्ञान की महिमा में श्लोक के श्लोक गीता में भरे पड़े हैं। किन्तु संन्यास मार्ग की अपेक्षा गीता कर्मयोग मार्ग की श्रेष्ठता स्वीकार करती है। भगवान ने चौथे अध्याय में सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्ग का विवेचन कुछ विस्तार से किया है। अर्जुन की बुद्धि जब कुछ यह निश्चय नहीं कर पाई कि इन दोनों मार्गों में कौन सा मार्ग श्रेयस्कर है, तब अर्जुन ने भगवान से पूछा कि :—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

हे कृष्ण! आप कर्मों के संन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इसलिए इनमें एक जो अच्छी प्रकार से निश्चय किया हुआ और कल्याणकारी हो, उसे कृपा कर मुझसे कहिए। इस पर भगवान कहते हैं—कि:—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ गीता०५. २.

संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मार्ग कल्याणकारी हैं; किन्तु इन दोनों में से कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है।

वास्तव में सांख्य और कर्मयोग दोनों ही मार्गों से ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ब्रह्मज्ञानी के लिए कुछ कर्त्तव्य नहीं रह जाता। जैसा गीता में कहा है कि, "नैव तस्य कृतेनार्थो"। ज्ञानी के लिए कुछ करना शेष नहीं रह जाता। भगवान स्वयं कहते हैं कि :—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्तएव च कर्मणि॥ गीता० ३. २२.

हे पार्थ ! इस त्रिभुवन में मेरे लिए कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं है और किंचित प्राप्त होने योग्य वस्तु ऐसी नहीं जो मुझे प्राप्त नहीं है तो भी मैं बराबर कर्म करता हूँ।

कर्मयोग के तीन अर्थ हो सकते हैं। (१) चातुर्वर्ण्य के यज्ञयाग अर्थात् श्रुतिस्मृति वर्णित कर्म (२) चित्त शुद्धि के लिए कर्म। (३) ज्ञान हो जाने पर लोक संग्रह के लिए कर्म करना।

गीता को यह तीसरा अर्थ मान्य है। कर्म संन्यास से कर्म योग श्रेष्ठ है। इस संबन्ध में गीता के इन वचनों पर ध्यान देना आवश्यक है।

(१) कर्म योगो विशिष्यते—कर्म योग श्रेष्ठ है।

(२) तस्माद्योगाय युज्यस्व। समत्वबुद्धि योग के लिए चेष्टा करो।

(३) योगः कर्मसु कौशलम्। कर्मों में चतुरता अर्थात् कर्म बन्धन से छूटने का उपाय योग है।

(४) मातेसङ्गोऽस्त्वकर्मणि। तेरी प्रीति या आसक्ति अकर्म में भी न होवे।

(५) यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्तभाव से कर्मेन्द्रियों से कर्म योग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।

(६) योगमातिष्ठोत्तिष्ठ। हे अर्जुन ! तू योग अर्थात् कर्मयोग में स्थित हो।

(७) कर्मज्यायोह्यकर्मणः। अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है।

(८) तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः। योगी अर्थात् कर्मयोगी तपस्वियों और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है।

(९) तस्माद्योगी भवार्जुन। इससे हे अर्जुन तू योगी हो।

(१०) मामनुस्मर युद्ध्यच। मुझे स्मरण करो और युद्ध करो।

(११) कर्म योगो विशिष्यते। कर्म योग श्रेष्ठ है। इसको श्री शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने केवल प्रशंसात्मक माना है। इन दोनों आचार्यों ने गीता में संन्यास की ही प्रधानता है—यह मत ढूँढ़ निकाला है और यह विशेषकर अपने सांप्रदायिक मत की पुष्टि के लिए ही। गीता का तो यह स्थिर सिद्धान्त है कि ज्ञान के पश्चात् संन्यास मार्ग ग्रहण करने की अपेक्षा कर्मयोग को स्वीकार करना ही उत्तम पक्ष है। गीताकार दोनों को एक ही समझते हैं। जैसा कहा है:—

सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयो र्विन्दते फलम्॥

सांख्य और कर्मयोग को मूर्ख लोग अलग अलग कहते हैं। पंडित जन एक ही समझते हैं; क्योंकि दोनों में से एक में स्थित हुआ पुरुष दोनों के फल स्वरूप परमात्म तत्त्व को प्राप्त होता है। ज्ञानी और अज्ञानी में सिर्फ़ इतना ही भेद है कि एक ही तरह का काम अज्ञानी सकाम बुद्धि से और ज्ञानी निष्काम बुद्धि से किया करता है।

गीता को ज्ञान अभीष्ट है; किन्तु गीता का स्पष्ट मत है कि ज्ञान हो जाने पर मनुष्य अपने ही आत्मानन्द में डूबा रहकर संपूर्ण कर्मों को छोड़ न दे; किन्तु लोक संग्रह के लिए समत्व बुद्धि से सदा कर्म करता ही रहे। ज्ञान हो जाने पर सर्वथा कर्म त्याग देने से लोगों को आलसी बनने में प्रोत्साहन मिलेगा वास्तव में सच्चा ज्ञान भी तो यही है कि सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखा जाय। समस्त प्राणियों के साथ एकता की अनुभूति की जाय। उनके सुख दुःख में शामिल हुआ जाय। दूसरों के कल्याणार्थ सदैव कार्य करते रहना ही ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य है। भर्तृहरि ने कहा है कि :—

स्वार्थो यस्य परार्थं एव स पुमानेकः सतां अग्रणीः

अर्थात् परार्थ ही जिसका स्वार्थ हो गया है वह साधु पुरुषों में श्रेष्ठ है। इसी भाव को वर्तमान युग के राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने नीचे लिखी कविता में इस प्रकार प्रकट किया है:—

वास उसी में है विभुवर का बस सच्चा साधु वही।
जिसने दुःखियों को अपनाया, बढ़कर उनकी बांह गही।
आत्मस्थिति जानी उसने ही परहित जिसने व्यथा सही।
परहितार्थ जिनका वैभव है उनसे ही है धन्य मही।

मनुजी महाराज ने इसी उदात्त भाव से प्रेरित होकर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के पृथक पृथक कर्त्तव्य निर्धारित कर दिये हैं। ज्ञान के पूर्व कर्त्तव्य पालन का विधान तो प्रत्येक मनुष्य के लिये है ही। ज्ञान हो जाने पर भी लोक संग्रह के लिये प्राप्त कर्त्तव्य का पालन करना लोक संग्रह के लिए सर्वथा उचित है। भगवान ने कहा है कि स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः अर्थात् अपने अपने कर्त्तव्य से परमात्मा की अर्चना करते हुए मानव सिद्धि को प्राप्त करता है। गीता को यह सिद्धान्त मान्य है कि परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का इति कर्त्तव्य है, किन्तु इससे भी आगे बढ़ कर गीता का विशेष कथन है कि अपने आत्मकल्याण में ही समष्टि रूप आत्मा के कल्याणार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करने का भी समावेश हो जाता है। इसलिए लोक संग्रह करना ही ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का सच्चा पर्यवसान है।

प्रत्येक मनुष्य में प्रकृति स्वभाव और गुणों के अनुरूप जो भिन्न भिन्न प्रकार की योग्यता होती है उसी को अधिकार कहते हैं और वेदान्तसूत्र में कहा है कि इस अधिकार के अनुसार प्राप्त कर्मों को पुरुष ब्रह्मज्ञानी होकर भी लोक संग्रह के लिए मृत्युपर्यन्त बराबर करता जावे। उन्हें छोड़ न देवे। 'यावदाधिकारमवा स्थितिरधिकारिणाम्'।

ज्ञान और कर्म में जो विरोध दीख पड़ता है वह ज्ञान और काम्य कर्मों का है। ज्ञान और निष्काम कर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ विरोध नहीं हैं। कर्म अपरिहार्य है। कर्म किये बिना चल नहीं सकता। और लोकसंग्रह की दृष्टि से उनकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष को जीवन पर्यन्त निस्सङ्ग भाव से यथाधिकार कर्म करते रहना ही उचित है।

साक्षात परब्रह्म के अवतार नर और नारायण ऋषि इस प्रवृत्तिप्रधान

धर्म के प्रथम प्रवर्तक हैं और इसी से उस धर्म का प्राचीन नाम नारायणीय धर्म है। ये दोनों ऋषि परम ज्ञानी थे।

लोगों को निष्काम कर्म का उपदेश देने वाले और स्वयं करने वाले थे। और इसी से महाभारत में इस धर्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

"प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः" म० भा० शान्ति पर्व। प्रवृत्ति लक्षण वाला धर्म नारायणीय धर्म है। भागवत में स्पष्ट कहा है कि यही सात्वत या भागवत धर्म है और इसी सात्वत या मूल भागवत धर्म का स्वरूप निष्काम प्रवृत्ति प्रधान था। गीता में इसी धर्म को योग कहा गया है। यही कर्मयोग मार्ग है।

निष्काम कर्म—देखने में निष्काम और कर्म दोनों परस्पर विरोधी (Contradictory) मालूम होते हैं। यद्यपि मनुष्य प्रकृति के वश सतत कर्म करता रहता है; किन्तु प्रत्येक कर्म के पीछे कोई न कोई कामना या इच्छा रहती है। विना इच्छा या कामना के मनुष्य कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। मनुष्य जब किसी कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसके फल को सामने रखता है। यह स्वाभाविक भी है। प्रत्येक कर्म का कोई न कोई फल अवश्य होता है। नित्य जीवन का अनुभव भी यही बतलाता है कि हम चाहे जिस किसी भी कर्म में प्रवृत्त हों उसके पीछे इच्छा होती है और सामने कर्म का फल रहता है। कहा भी है कि "प्रयोजनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।" अर्थात् निष्प्रयोजन मन्द भी किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, बुद्धिमान की बात तो दूर रही। जीवन में कोई न कोई लक्ष्य होता है और उसे हासिल करने के लिए मनुष्य प्रयत्नशील होता है। किसान खेत में बीज बोता है इस आशा से कि उस खेत में समय पर अच्छी फस्ल काटेगा। हरे भरे खेत को देखकर उसका दिल हरा हो जाता है और ख़राब फ़स्ल देखकर उसका दिल मुर्झा जाता है। जो कोई दरख्त रोपता है उसका भी यही उद्देश्य होता है कि पेड़ में अच्छे और मीठे फल लगेंगे। दरख्त लगावे और मन में यह भाव न आवे कि इसमें अच्छे और मीठे फल लगेंगे—यह असंभव है। पहलवान जब अखाड़े में उतरता है तो उसके मन में यही उत्साह और उमंग रहता है कि वह अपने विरोधी पहलवान को पछाड़ देगा। इसी आशा से वह उत्साह और बलपूर्वक अपने विरोधी

पहलवान से अखाड़े में भिड़ता है। यदि उसके मन में पहिले ही यह बात बैठ जाय कि अखाड़े में मेरी हार हो जायगी तो पहिले या तो वह अखाड़े में उतरेगा ही नहीं और यदि उतरा भी तो आधे मन से लड़ेगा और उसकी हार निश्चित ही समझिए। विद्यार्थी परीक्षा हाल में बैठता है इसी आशा से कि वह परीक्षा में उत्तीर्ण होगा। यदि उसे पहिले यह मालूम हो जाय कि मैं परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाऊँगा तो वह परीक्षा में बैठेगा ही नहीं। उसके मन में यह आशा बराबर लगी रहती है कि वह परीक्षा में उत्तीर्ण होगा। यदि निष्काम कर्म का यह अर्थ लगाया जाय कि हम कर्म तो करते जाते हैं फल मिले या न मिले, फल की ओर से उदासीन रहें तो कर्म करने में वह उत्साह और प्रेरणा न मिलेगी जो फल को प्राप्त करने की निश्चित आशा से कर्म करने में मिलेगी। हम अपने देश में पूर्ण स्वराज्य के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। यदि हमारे मन में यह भाव काम करे कि स्वराज्य मिले या न मिले, हम तो स्वराज्य के लिए कर्म करते ही जायेंगे। यदि स्वराज्य न मिले तो हम कर्म ही क्यों करें और हमारे कर्म का अर्थ क्या होगा। हमारा सारा काम ही निष्फल और निरर्थक हो जायेगा। हमारा यह क्षण क्षण का अनुभव है कि बिना फल की कामना के हम किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होते हैं। जीते हैं—इसका भी कोई न कोई फल है। यदि मोक्ष—संपूर्ण बन्धनों से मुक्त, मनुष्य जीवन का लक्ष्य मान लिया जाय तो इसकी प्राप्ति के लिए साधन करना होगा। इस भाव से साधन या उपाय करना कि हम तो अपना कर्त्तव्य करते जा रहे हैं, हमें मोक्ष मिले या न मिले—यह भाव और वृत्ति मानसिक अस्वस्थता का सूचक है। तो फिर जो हमारा नित्य कर्म के संबंध में अनुभव है उसकी निष्काम कर्म के साथ किस प्रकार संगति बैठाई जाय? कर्म और उसके फल का संबन्ध ठीक उसी प्रकार है जैसे बीज और फल का है। हम बोयेंगे तो उसमें वृक्ष होगा और वृक्ष में फल लगेगा। कर्म का फल जब सामने है तो हमें कर्म इस कुशलता और योग्यता से करना चाहिए कि उसका सुन्दर फल कम से कम समय में मिल जाय। इसलिए फल को सामने रख कर ही कर्म की पूरी रूप रेखा सामने रखनी होगी। कर्म की

पूरी पूरी योजना Planning करनी होगी। और दृढ़ता और एकाग्रता के साथ कर्मयोजना के साथ इस प्रकार कर्म में जुट जाना होगा जिससे कर्म फल की प्राप्ति हमें शीघ्र से शीघ्र हो जाय। भगवान कृष्ण महाभारत-युद्ध में पांडवों के समर्थक थे। पांडवों की विजय दिल से चाहते थे। जिस जिस युक्ति से पांडवों की जीत हो वह सभी अर्जुन और युधिष्ठिर को बतलाते थे। उनकी सलाह से कभी युधिष्ठिर भीष्म पितामह के पास जाते और उनसे विजय का नुंसखा पूछते। भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं युद्ध के मैदान में धर्मराज युधिष्ठिर से कहला दिया कि, "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो"। यह असत्य बात युधिष्ठिर के मुँह से इसलिए कहलवाई कि इसका बुरा प्रभाव विपक्षी पर पड़े। महाभारत की लड़ाई पांडवों की विजय उनके लिए अभीष्ट थी और इसके लिए बराबर वे युक्ति और उपाय करते थे। हाँ, एक बात यह भी जीवन में देखने में आती है कि कभी कभी जो फल हम चाहते हैं वह नहीं मिलता; बल्कि विपरीत फल मिल जाता है। ऐसी स्थिति में निराश नहीं होना चाहिए। बल्कि यह सोचना चाहिए कि कर्म करने में कहीं त्रुटि रह गई जिससे कर्म की सिद्धि ठीक तौर से नहीं हुई। नीति का एक बड़ा ही सुन्दर श्लोक है:—

उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवेनदेयमिति कापुरुषा बदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्रदोषः॥

इस श्लोक का अर्थ अकसर संस्कृत के पण्डितों से जो सुना है वह नितान्त अशुद्ध है। वे अक्सर इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं।

उद्योग पुरुष सिंह के पास लक्ष्मी जाती है। कापुरुष लोग ऐसा कहते हैं कि दैव से प्राप्त होगा अर्थात् जैसा भाग्य में बदा होगा वैसा मिलेगा। दैव को मारकर आत्म शक्ति से पुरुषार्थ करो और यदि यत्न करने पर कार्य सिद्ध न हो तो इसमें किस का दोष? अर्थात् भाग्य का ही दोष है। यहीं पर अर्थ करने में भूल हो जाती है। जब कि तीसरी पंक्ति में यह कहा गया कि दैव को अच्छी तरह मारकर पुरुषार्थ करो तो चौथी पंक्ति में यह अर्थ लगाना

कि कार्य सिद्ध न हो तो किसका दोष अर्थात् भाग्य का ही दोष है—सर्वथा असंगत है। अर्थ यह होना चाहिए कि पुरुषार्थ करने के बाद जब कार्य सिद्ध नहीं हुआ तो यह विचार करना चाहिए की कार्य करने में क्या त्रुटि रह गई—क्योंकि दैव को पहिले ही अच्छी तरह मार दिया फिर उसका दोष क्यों? इस श्लोक में तो भाग्यवाद को समाप्त कर पुरुषार्थ पर जोर दिया गया है।

यदि हमें कार्य का फल ठीक ठीक नहीं मिलता तो हमें यही विचार करना चाहिए कि कार्य करने में कहाँ त्रुटि रह गई, क्या कमी हुई। उसे दूर करने का यत्न करना चाहिए। कभी कभी फल की प्राप्ति नहीं होने में अन्य कारण भी हो जाते हैं। इसलिए कर्म फल प्राप्त नहीं होने पर ज़राभी निराश या हतोत्साहित नहीं होना चाहिए; बल्कि द्विगुण उत्साह, लगन और निष्ठा के साथ फिर कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए जिससे अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति हो जाय। सच्चा कर्मी वह है जो कर्म फल की प्राप्ति नहीं होने पर ज़रा भी निराश नहीं होता, बल्कि कई गुने उत्साह के साथ युक्तिपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होता है। कर्म की निष्कामता या निष्काम भाव से कर्म करने का यही अर्थ लगाया जा सकता है। फल की प्राप्ति नहीं होने पर ज़रा भी खिन्नता, म्लानता या निराश न होने पाये। निष्कामकर्मी के जीवन में खिन्नता, म्लानता और निराशा के लिए स्थान नहीं। उसका हृदय तो सतत उत्साह एवं उमंग में भरा रहता है। निष्कामकर्म में कर्म की सिद्धि के लिए कर्म की पूर्ण योजना भी सन्निहित है। फलासक्ति होने से फलकी प्राप्ति नहीं होने पर दुःख और निराशा होती है। फलासक्ति में फल के पाने पर सुख और फल के नहीं पाने पर दुःख होता है। यह आसक्ति नहीं होनी चाहिए। गीता ने इसी को त्याज्य बतलाया है। अनुकूल और प्रतिकूल फल की अवस्था में मानसिक साम्यावस्था बनी रहे—यही निष्कामता है। इस निष्कामता में कर्म फल की ओर से उपेक्षावृत्ति नहीं है, बल्कि मनोयोग पूर्वक साम्य बुद्धि से कर्म को युक्ति और कुशलता पूर्वक करने का भाव इस में निहित है।

———

पाँचवाँ अध्याय

आदर्शवाद

गीता ने मानव समाज के सामने एक बड़ा आदर्श रखा है। वह आदर्श है मानव में देवत्व की अनुभूति। शरीर किंवा प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो, ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करना मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। अहं को निस्स्वार्थभाव से मानव समाज की सेवा करते हुए इतना फैला देना कि वह विश्वात्मा में लय हो जाय। भगवान ने अर्जुन को तीनों गुणों से परे जाकर द्वन्दातीत अवस्था में स्थित रहने का आदेश किया है। त्रिगुणातीत अवस्था, कैवल्यपद, मोक्ष या ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करना ही गीता का आदर्श है। हाँ, गीता इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर रुक नहीं जाती; बल्कि एक कदम और आगे बढ़ कर कहती है कि आत्मस्थ होकर लोकसंग्रह के लिए नियत कर्म करना श्रेष्ठ है, योग्य है, उचित है। यद्यपि कैवल्यपद प्राप्त कर लेने पर कुछ करना शेष नहीं रह जाता तो भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करने का आदेश भगवान करते हैं।

मोक्ष—अब यहाँ पर थोड़ा मोक्ष का विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा। परब्रह्म के साथ एक होना ही मोक्ष है। यह स्थिति विभिन्न नामों से पुकारी जाती है। मुक्ति, निर्वाण, ब्राह्मीस्थिति, नैष्कर्म्य, निस्त्रैगुण्य, कैवल्य और ब्राह्मभाव। पूर्णावस्था में सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही आत्मभाव की अनुभूति होती है।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

अर्थात् योगयुक्त आत्मा योगी सब में अपने को और अपने में सबको देखता है। वह सर्वत्र एक आत्मतत्त्व को देखता है। किसी कवि ने कहा है कि "जहीं देखता हूँ वहीं तू ही तू है।" पूर्णावस्था को पाप और पुण्य कर्मों के फल छू नहीं सकते। अन्तिम अवस्था को सिद्धि, परासिद्धि, परमगति,

शान्ति, शाश्वतपद, अव्यय और अक्षर कहा है। यह बात साफ नहीं होती कि इस पूर्ण अवस्था में वैयक्तिक आत्मा का अस्तित्व रहता है कि नहीं। गीता में ऐसे भी स्थल हैं जहाँ यह साफ साफ कहा है कि मुक्तात्मा का इस संसार से कोई सरोकार नहीं रह जाता है। द्वैतभाव दूर हो जाता है और कर्म करना असम्भव हो जाता है। स्वतंत्र पुरुष गुण रहित हो जाता है। जैसा कि गीता के ५वें अध्याय के १७वें श्लोक में कहा है :—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्य पुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः॥

उस परमार्थ तत्त्व में जिनकी बुद्धि रँग जाती है और उसी में जिनका चित्त रम जाता है और उसी में जो लीन रहते हैं, ज्ञान से जिनके पाष धुल जाते हैं फिर वे जन्म नहीं लेते।

आठवें अध्याय में भगवान विस्तार से कहते हैं कि :—

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति समद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥८.५॥
अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ अ० ८. ८.
आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ८. १६.

अर्थात् जो अंतकाल में मेरा स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह मेरे स्वरूप में निस्सन्देह मिल जाता है। चित्त को कहीं दूसरी जगह न ले जाकर अभ्यास योग से उस चित्त को स्थिर कर दिव्य परम पुरुष का ध्यान करते हुए उसी में यह जीव मिल जाता है। हे अर्जुन ब्रह्मलोक तक स्वर्ग आदि जितने लोक हैं वहाँ से फिर इस भूलोक में लौटना पड़ता है; किन्तु मुझे प्राप्त कर जन्म लेना नहीं पड़ता। भगवान आगे कहते हैं कि जहाँ पहुँच कर फिर लौटना नहीं पड़ता वह मेरा धाम है।

यत् गत्वा न निवर्तन्ते। तद्धाम परमंमम।

ब्रह्मभाव में मिल जाने पर द्वैत भाव नष्ट हो जाता है, जीवभाव लुप्त हो जाता है और कर्म असंभव हो जाता है। मुक्त पुरुष तीनों गुण सत्व, रज और तम से मुक्त हो जाता है और अनन्त आत्मा में मिलकर उसके साथ एक हो जाता है। यदि प्रकृति ही काम करती है और जो अनन्त आत्मा सदा स्वतन्त्र है तो मोक्षावस्था में अहंकार का सर्वथा लय हो जाता है और अहंकार के लय हो जाने से उसमें इच्छा और क्रिया नहीं रह जाती। यह स्वतन्त्रता की चरमावस्था है जहाँ जन्म, कर्म की पहुँच नहीं। संपूर्ण मानवीय स्थितियों से परे यह आत्मा की वह चरमस्थिति है जहाँ जन्म मरण का भय नहीं। एक ही आत्म तत्त्व की अनुभूति होती है। आत्मक्रीड़ा। आत्मरतिः॥ आत्मा अपने आप में क्रीड़ा करता है, अपने आप ही में रमण करता है। श्री शंकराचार्य ने गीता के इन्हीं उपरोक्त अवतरणों के आधार पर गीता में सांख्य के कैवल्यपद को सिद्ध करने की चेष्टा की है। शंकर इस बात को स्वीकार करते हैं कि जब तक शरीर है तभी तक जीवन और क्रिया है। जीवनमुक्त पुरुष की प्रतिक्रिया वाह्य संसार की घटनाओं पर होती है। यद्यपि वह उन घटनाओं से प्रभावित नहीं होता। गीता में ऐसा संकेत मिलता है कि संपूर्ण प्रकृति का, शारीरिक धर्म का अपरधर्म में रूपान्तर (Transformation) हो सकता है। शरीर और आत्मा के गुण धर्म सर्वथा भिन्न और एक दूसरे के विपरीत हैं और शरीर भाव के सर्वथा नाश हुए बिना आत्मा का पूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त के समर्थन में एक बड़ा तर्क यह पेश किया जाता है कि शरीर अपूर्ण, शरीर की इन्द्रियाँ अपूर्ण, मन और बुद्धि अपूर्ण है। आत्मा असीम और शरीर ससीम। फिर ससीम शरीर भाव के रहते हुए असीम मोक्ष संभवित कैसे हो सकता है। इसलिए यह शरीर रहते हुए पूर्ण मोक्ष संभवित नहीं। यदि इस विचार को मान लिया जाय तो ब्रह्म में क्रिया सम्भवित नहीं हो सकती।

दूसरी ओर गीता में ऐसे भी अवतरण मिलते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि मुक्तात्मा से कर्म होना सम्भवित है। चौथे अध्याय के १३वें श्लोक में भगवान कहते हैं :—

चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुण कर्म विभागशः ।
तस्यकर्तारमपि मां विद्धय कर्तारमव्ययम् ॥

अर्थात् गुण कर्म के भेद से मैंने चारों वर्ण बनाया । यद्यपि मैं अकर्ता और अविनाशी हूँ तथापि उनका कर्ता भी मैं ही हूँ ।

फिर भगवान आगे कहते हैं कि:—

न मां कर्माणि लिप्यन्ति नमे कर्म फले स्पृहा ।
इतिमां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स वध्यते ॥

कर्म मुझको लिपायमान नहीं करते क्यों कि कर्म फल में मेरी लालसा नहीं रहती । ऐसा मुझे जो भली प्रकार जानता है कि मैं कर्ता होते हुए भी अकर्ता हूँ वह कर्मों से नहीं बँधता ।

ऐसा जान कर प्राचीन समय के लोगों ने भी कर्म किया था इसलिए हे अर्जुन ! तू पूर्वजों द्वारा सदा से किए हुए कर्म को ही कर ।

गीता के मतानुसार सर्वोच्च अवस्था में व्यक्तित्व का सर्वथा लय नहीं होता । बल्कि दिव्यात्मा का अंश होकर वह व्यक्तित्व क़ायम रहता है । मोक्ष अनन्त काल के लिए व्यक्तित्व का क्षय हो जाना नहीं है; बल्कि वह आत्मा की आनन्दमयी मुक्तावस्था है जिसमें ईश्वर की उपस्थिति में व्यक्तित्व की स्पष्ट सत्ता मौजूद रहती है । जैसा कि भगवान ने स्वयं कहा है:—"मद्भक्ता यांति मामपि" । मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं । मानव प्रकृति रुपान्तरित होकर ईश्वरीय प्रकृति या शक्ति बन जाती है । मुक्तात्मा प्रकृति के वशीभूत होकर काम नहीं करता; बल्कि ईश्वरीय प्रेरणा से प्रेरित होकर वह कर्म करता है ।

अंतिम अवस्था के सम्बन्ध में गीता में दो विरोधी विचार मिलते हैं । (१) इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मुक्त आत्मा अपने को अनन्त ब्रह्म में लय कर देता है और ऐसी अक्षय शान्ति प्राप्त कर लेता है जो संसार के द्वन्दों से परे है । (२) दूसरी अवस्था वह है जिसमें हम ईश्वर को प्राप्त करते तथा ईश्वरीय आनन्द का भोग करते हैं । संसार के दुखों और क्षुद्र स्वार्थमयी इच्छाओं से ऊपर उठ जाते हैं । गीता एक धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण पुरुषोत्तम भगवान को अंतिम सत्य मानती है और मानव में देवत्व को पूर्ण

रूप से विकसित करने के लिए उपदेश करती है। उपनिषद के पूर्ण ब्रह्म की कल्पना से इसका कोई विरोध नहीं है। गीता उपनिषद के पूर्ण ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करती है; किन्तु साथ ही साथ यह भी कहती है कि मानव कल्याण के लिए वह अपने को पुरुषोत्तम भगवान (Personal God) के रूप में प्रकट करता है। ब्रह्म के दो पहलू हैं। (१) भाव पक्ष (Positive aspect) (२) अभाव पक्ष (Negative aspect) अभाव पक्ष में निर्वाण की स्थिति है। ऐसी आनन्द की स्थिति जहाँ इच्छा क्रिया और ज्ञान का भान नहीं। जो नीरव और निश्चित स्थिति है। यह वह अवस्था है जिसकी उपमा गीता में इस प्रकार दी गई है :—"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मता।" जैसे वायु से रहित स्थान में दीपक की शिखा पूर्ण स्थिर रहती है, उसी प्रकार यह स्थिर स्थिति है जहाँ किसी प्रकार की हलचल नहीं, क्रिया नहीं। जो शान्त है, शाश्वत है। यह देश काल, परिस्थिति से अबाधित अवस्था है। यह कैवल्य ब्रह्म की अवस्था है जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी एक हो जाती है। जहाँ द्वैत का सर्वथा लय और एक आत्म दर्शन के अतिरिक्त दूसरा नहीं रह जाता। वहाँ कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कौन किसको सूंघे और कौन किससे बोले? जब दो हों तब तो ये क्रियायें हों। जहाँ एक ही एक है वहाँ द्वैत कहाँ? यदि हम इसके भावात्मक पहलू (Positive aspect) को लें तो श्री रामानुज का यह कथन कि पुरुषवाची (Personal) और अपुरुष-वाची (Impersonal) ईश्वर दो होते हुए एक ही हैं। गीता कहती है कि अन्तिम सत्य की अवस्था में व्यक्तित्व (Personalitv) और अव्यक्त पुरुष इस प्रकार एक दूसरे से मिले रहते हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक करना हमारे लिए कठिन है। इसी प्रकार मुक्त आत्माओं में व्यक्तित्व होता भी है और नहीं भी होता। इस प्रकार गीता त्रिकालातीत सतत् निश्चल, निर्वाण अवस्था की लीला के साथ सामञ्जस्य स्थापित करती है।

यह कहा जाता है कि यह शरीर रहते हुए मनुष्यात्मा का पूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता। पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति या पूर्ण मोक्ष शरीर छूटने के बाद ही

हो सकता है। एक तो मृत्यु के बाद क्या होगा, कैसी स्थिति होगी—यह जीवित मनुष्य के लिए कहना कठिन है। क्योंकि जीवित अवस्था में तो मृत्यु के बाद होने वाली अवस्था का अनुभव तो है नहीं, तो भला निश्चय पूर्वक यह कैसे कहा जा सकता है कि शरीर छोड़ने के बाद ही पूर्ण मोक्ष हो सकता है। यह तो हमारा केवल अनुमान हो सकता है, हमारी कल्पना हो सकती है। वास्तविकता नहीं, और जो अनुमान और केवल कल्पना पर अवलम्बित है वह सत्य नहीं हो सकता। एक तो शरीर रहते पूर्ण मोक्ष का अनुभव नहीं हो सकता और दूसरे शरीर छूटने पर जिन आत्माओं को पूर्ण मोक्ष मिल गया वे फिर दूसरा जन्म नहीं लेते। वे जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए ऐसे पूर्ण, मुक्त पुरुष के अनुभव को जानने का मेरे पास कोई साधन भी रह नहीं जाता कि मृत्यु के बाद मुक्तपूर्णावस्था की स्थिति कैसी होती है। वेद और उपनिषद् के ऋषियों ने जिस अन्तिम सत्य का साक्षात्कार किया है वह अपनी दिव्य दृष्टि से शुद्ध अन्तःकरण में अपनी जीवित चेतना में ही किया है और संसार के बड़े बड़े सन्तों ने जिस चरमसत्य को देखा है वह अपनी जीवित चेतना में ही देखा है। मानवजीवन का जो चरमलक्ष्य हो सकता है वह इसी जीवितचेतना (Living Conciousness) में ही प्राप्तव्य है। वह लक्ष्य है पूर्ण ब्रह्म या सत्य की प्राप्ति जहां संसार के द्वन्द नहीं पहुँच सकते। जहां शोक, दुःख, क्षोभ, ग्लानि और भय का सर्वथा अभाव हो जाता है। यह अवस्था देश काल और परिस्थिति के परे है। इस अवस्था में काल की भी पहुँच नहीं। काल तो संसार को खाता है; किन्तु वह अवस्था काल को भी ग्रस लेती है। वह द्वन्दातीत, कालातीत त्रिगुणातीत अवस्था है जहां सदा आनन्द ही आनन्द है। जहां चिरशांति विराजती है। यह अवस्था सदा एकसी अक्षुण्ण बनी रहती है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। यह अपरिवर्तनशील अवस्था है। संसार जरामरण धर्मा है; किन्तु वह अवस्था अजर है, अमर है। यही अवस्था गीता की ब्राह्मी स्थिति है, स्थित प्रज्ञता की अवस्था है। गीता बहुत साफ साफ़ कहती है कि मनुष्य का आदर्श तथा उसका लक्ष्य सर्व प्रथम ब्राह्मी स्थिति

प्राप्त करना है। जिस पुरुष ने इस स्थिति को प्राप्त कर लिया है उसे गीता में स्थितप्रज्ञ कहा गया है। दूसरे अध्याय में जब अर्जुन ने भगवान से पूछा कि:—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थ केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ २. ५४

अर्थात् हे केशव ! मुझे आप यह बतलाइये कि समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ पुरुष किसे कहते हैं? यह स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है। कृपा कर उसका पूरा पूरा लक्षण बतलाइये। अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान ने विस्तार से अर्जुन को स्थितप्रज्ञ का लक्षण इस प्रकार बतलाया :—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ २. ५५.
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भय क्रोधः स्थितधीर्मुनि रुच्यते ॥ २. ५६
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २. ५७
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ॥
निर्ममो निरंहकार स शान्तिमधि गच्छति ॥ २. ७१
एषा ब्राह्मीस्थिति : पार्थ नैनां प्राप्यं विमुह्यति।
स्थित्वास्यामंत कालेऽपि ब्रह्मनिर्वाण मृच्छति ॥ २. ७२

अर्थात् हे पार्थ ! जो अपनी संपूर्ण कामनाओं को छोड़ देता है और अपने आप में ही संतुष्ट और मग्न रहता है उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

दुःखों में जिसका मन क्षुब्ध नहीं होता, सुखों में जिसकी चाह नहीं होती और जो राग, आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त हो गया है ऐसे पुरुष को स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं।

सब बातों में जिसका मन निस्संग हो गया है और जो शुभ को पाकर प्रसन्न और अशुभ को पाकर विषाद नहीं करता उसकी बुद्धि स्थिर हुई समझो।

जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को छोड़कर असंग भाव से सब व्यवहार करता है, जो ममता और अहङ्कार से रहित है उसे शान्ति मिलती है।

हे पार्थ! यही ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् ब्रह्म प्राप्त हो जाने के बाद की स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर कोई भी पुरुष मोह में नहीं फँसता और मरने के समय भी इस स्थिति में रहते हुए मनुष्य ब्रह्मनिर्वाण की स्थिति को प्राप्त करता है। अर्थात् शरीर रहते हुए ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाती है और शरीर छूटने पर भी वह स्थिति बनी रहती है। जिसे यह स्थिति प्राप्त हो जाती है उसे मुक्त या जीवन मुक्त कहते हैं। ऐसा मुक्त पुरुष अच्छे और बुरे से परे चला जाता है। सब साधारण नियम और बन्धनों से ऊपर उठ जाता है। विधि और निषेध के परे हो जाता है। भगवान शंकर ने कहा है कि:—निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः। निस्त्रैगुण्य पथ में विचरते हुए स्त्री पुरुष के लिए विधि निषेध कुछ नहीं है। बल्कि ऐसे पुरुष के आचारण ही समाज में विधि और निषेध की सृष्टि करते हैं। ऐसे ही पुरुष को शास्त्रों में सिद्ध कहा गया है। गीता स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त कर लेने से ही संतुष्ट नहीं हो जाती। वह इससे आगे जाती है और स्पष्ट कहती है कि यद्यपि स्थितप्रज्ञ अवस्था प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रह जाता, वह कृतकृत्य और धन्य हो जाता है तो भी उसे लोक संग्रह के लिए सदा नियत कर्म करते रहना चाहिए। कभी कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जिसका आचरण करते हैं उसी का अनुकरण साधारण मनुष्य करते हैं।

गीता स्थितप्रज्ञता की अवस्था प्राप्त करने के लिए भी फलाकांक्षा छोड़ कर समर्पण बुद्धि से कर्म करने का आदेश करती है और स्थितप्रज्ञता की अवस्था प्राप्त कर लेने पर जब कि मनुष्य पूर्ण निष्काम हो जाता है और उसके लिए संसार में कुछ कर्त्तव्य बाकी नहीं रह जाता तो भी वह प्राप्त कर्म लोक संग्रह के लिए पूर्ण अनासक्त भाव से किया करे। यही गीता का आदर्शवाद है और यदि कहा जाय तो यही गीतादर्शन या गीता की शिक्षा का निचोड़ है।

छठा अध्याय

व्यवहारवाद

गीता ने जहाँ एक ओर स्थितप्रज्ञता की अवस्था प्राप्त कर निष्काम बुद्धि से नियत कर्म करने का महान आदर्श मानव समाज के सामने रखा है वहाँ दूसरी ओर उसने जीवन के व्यवहार पक्ष पर भी काफ़ी ज़ोर दिया है और मनुष्य जीवन को क़ायम रखने के लिए खान पान तक का भी विचार किया है। गीता ने यद्यपि ज्ञान का दरवाज़ा सब के लिए खोल दिया है। ज्ञान की प्राप्ति में जाति, वर्ण और लिंग की कोई रुकावट नहीं है। गीता की पवित्र गंगा में हरेक गोता लगा सकता है। क्या ब्राह्मण हो, क्या क्षत्रिय क्या वैश्य, क्या शूद्र, स्त्रियाँ और अन्त्यज भी ज्ञान गंगा में डुबकी लगा कर भवसागर पार कर सकते हैं। तो भी गीता समाज में वेदोक्त चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को स्वीकार करती है। भारतीय समाज की रचना चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर हुई है और यह व्यवस्था इतनी सुदृढ़ नींव पर खड़ी की गई थी कि आज भी सहस्राब्दियों के ऐतिहासिक उथल पुथल के बाद भी यह व्यवस्था हिन्दुस्तान में क़ायम है। इस व्यवस्था के अपने दोष और गुण दोनों हैं; किन्तु इस व्यवस्था के गुण दोष विवेचन का यह स्थल नहीं है। इस संबन्ध में केवल इतना ही कथन है कि महाभारत के काल में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रचलित थी। गीता उस व्यवस्था को आदर्श मानती है। समाज में इस व्यवस्था को आदर्श मानते हुए भी भगवद्भक्ति का दरवाजा गीता ने सब मानव प्राणियों के लिए समान रूप से खोल दिया है। गीता ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का विधान कर अपने अपने कर्म से समाज को सुदृढ़ धागे में बांधे रखने का आदेश किया है। भगवान ने स्वयं कहा है कि:—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥४. १३

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों की व्यवस्था गुण कर्म के भेद से मैंने बनाई है। तुम मुझे उसका कर्ता जानो और अकर्ता भी। अर्थात् मैं उनका कर्ता होता हुआ भी अकर्ता हूँ। कर्तृत्व से अलिप्त हूँ। चातुर्वर्ण्य के गुण, कर्म और भेद का निरूपण अठारहवें अध्याय में विस्तार से किया गया है।

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणांच परंतप।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ॥१८.४१.

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म, उनके स्वभाव जनित प्रकृत सिद्ध गुणों के अनुसार बँटे हुए हैं।

ब्राह्मण कर्म—शमोदमस्तपः शौचं क्षांति रार्जवमेवच।

ज्ञानं विज्ञान मास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥१८.४२.

ब्राह्मणों का स्वभावजन्य कर्म शम, इन्द्रियदमन, तपश्चर्या। इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए शीतोष्ण द्वन्दों को सहना और नाना प्रकार के कष्टों को झेलकर नियत कर्म पूर्ण करना, पवित्रता (वाह्य और आभ्यन्तर दोनों) सरलता, ज्ञान प्राप्त करना तथा ज्ञान की विशेष अनुभूति करना तथा आस्तिक बुद्धि है।

क्षात्र कर्म—शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वर भावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥

शूरवीरता, तेजस्विता (अन्याय, अनीति के प्रतिकार की प्रबल शक्ति), कुशलता, लड़ाई के मैदान से न भागना, दान देना और प्रजा पर शासन करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है।

वैश्यकर्म—कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

खेती, गोरक्षा और व्यापार वैश्यों का स्वाभाविक कर्म है।

शूद्रकर्म—परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्

इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

भिन्न भिन्न वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्म बतलाये गये हैं। उन्हीं कर्मों को फलाशा त्याग कर, करने का

उपदेश गीता करती है। गीता वर्णों की खिचड़ी पकाने के पक्ष में नहीं है। वह यह नहीं कहती कि शूद्र ब्राह्मण का काम और ब्राह्मण शूद्र का काम करने लगे। समानता के आधार पर ऐसी व्यवस्था भी की जाय तो गीता के मत में वर्णों की जो स्वाभाविक योग्यता है वह कम हो जायेगी और कर्म भी सुचारु रूप से न हो सकेगा। इसीलिए अगले श्लोक में भगवान कहते हैं कि :—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं या विंदति तच्छृणु ॥ १८. ४५.

अपने अपने कर्मों में लगा हुआ पुरुष सिद्धि को प्राप्त करता है और जिस प्रकार अपने कर्मों में तत्पर पुरुष सिद्धि प्राप्त करता है उसे सुनो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदंततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ १८. ४६.

जिस ईश्वर से सब प्राणियों में प्रवृत्ति हुई है और जिसने सारे जगत का विस्तार किया है अर्थात् जिससे सारा संसार व्याप्त है उसकी अर्चना स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्मों द्वारा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

अपने सहज धर्म को ही भगवान कल्याणकारी समझते हैं और कहते हैं कि :—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावे नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ १८. ४७.
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृत्ताः ॥ १८. ४८.

अर्थात् अपना धर्म चाहे दूसरों की दृष्टि में दोषयुक्त भी हो तो भी वह पर धर्म की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है। स्वभावानुसार बनाई हुई चातुर्वर्ण्य व्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना कर्म करने में कोई पाप नहीं होता। अपना सहज कर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य व्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना स्वाभाविक कर्म चाहे वह दोषयुक्त भी क्यों न हो, तो भी उसे न छोड़े। यह विचार न करे कि यह कर्म दोषयुक्त है, इसलिए इसे छोड़ देना चाहिए।

क्योंकि संपूर्ण आरंभ अर्थात् कर्म प्रकृति जन्य होने से दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं जैसे कि आग धुयें से घिरी रहती है।

प्रकृति में हम भिन्नता देखते हैं। लोग भी भिन्न भिन्न रुचि के होते हैं। समाज में एक ही व्यक्ति प्रत्येक काम स्वयं नहीं कर सकता। वह अपने लिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के समस्त साधनों को स्वयं पैदा नहीं कर सकता। ऐसा करने में वह असमर्थ भी है। इसलिए अपनी आवश्यकता की बहुत सी चीज़ों के लिए उसे दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। इसीलिए समाज में श्रमविभाग की उत्पत्ति हुई। वैदिक काल में ऐतिहासिक परिस्थितियों ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को जन्म दिया। आर्य लोग सूर्य, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की स्तुति करते थे। और धीरे धीरे उनका यह नित्यकर्म भी हो गया। बाद में यज्ञों का प्रचार बढ़ा। और यज्ञ की समुचित व्यवस्था का विधान करने के लिए एक अलग ययुर्वेद ही बन गया। स्तुति और यज्ञ के अलावा आर्यों को शत्रुओं से लड़ने का भी काम करना पड़ता था। अब एक ही व्यक्ति के लिए स्तुति, यज्ञ करना और साथ ही साथ लड़ाई पर जाना कठिन होने लगा और इस कठिनाई को दूर करने के लिए उन्हीं आर्यों में दो वर्ग हो गये। एक वह वर्ग जो केवल स्तुति और यज्ञ याग में ही लगा रहता और दूसरा वर्ग लड़ाई के काम में जुटा रहता और इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय दो वर्ण बने। कृषि व्यवसाय और गोरक्षा के काम को करने के लिए वैश्य की उत्पत्ति हुई। जो अनार्य थे उन्हीं को आर्यों ने दास बनाया और उन्हें शूद्र संज्ञा दी। वेद ने आलंकारिक भाषा में बड़े सुन्दर ढंग से इस चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को प्रकट किया है:—

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अर्थात् भगवान के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए।

प्रारंभ में श्रम विभाग के आधार पर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बनी। गीता को भी यही मत मान्य है; किन्तु जब समाज की रचना एक बार चातुर्वर्ण्य व्यव-

स्था के आधार पर बन गई तो उसे कठिन नियमों में बाँध दिया गया और धीरे धीरे वर्ण जन्मगत हो गया। वास्तव में कर्मणा वर्णः अर्थात् गुण कर्म के अनुसार वर्ण का उदय हुआ न कि जन्मना वर्णः। जन्म से वर्ण हुआ; किन्तु शताब्दियों किंवा सहस्राब्दियों तक एक ही वर्ण का काम करते करते वह जन्मगत हो गया। जिस प्रकार प्रत्येक मानव के चरित्र विकास में दो नियम (१) (Law of heridity) (वंश परंपरागत नियम और (२) (Law of invironment) (आस पास के वातावरण का नियम। लागू होते हैं वैसे ही ये नियम समाज एवं राष्ट के विकास में भी लागू होते हैं। जैसे किसी गेहूँ के पौधे को ले लीजिये। उसके विकास क्रम में ऊपर बतलाए गए दोनों नियमों पर ध्यान देना होगा। एक तो यह देखना होगा कि गेहूँ के पौधे का बीज कैसा है? अच्छा है या बुरा जैसा बीज होगा उसका प्रभाव उसके विकास पर भी पड़ेगा। यदि अच्छा बीज हुआ तो उसका विकास अच्छा होगा; किन्तु दूसरा नियम भी उसके विकास क्रम में कम महत्त्व का नहीं है। जिस भूमि में बीज बोना है उस भूमि पर भी ध्यान देना होगा कि वह भूमि अच्छी है या बुरी। आब व हवा कैसी है? ठीक समय पर पौधा सींचा गया है कि नहीं। यदि परिस्थिति भी अनुकूल हुई तो उस बीज से जो पौधा जमेगा उसका विकास ठीक ठीक होगा। ये ही नियम पशुओं की नस्ल पर भी लागू होते हैं। जैसे अरबी घोड़े और हिसार की गाय। ये जानवर पैदाइश से ही बड़े और सुन्दर होते हैं। और यदि इनका ठीक ठीक पालन पोषण हुआ तो इनका विकास बराबर अच्छा होता जायेगा। इसी प्रकार जिस ब्राह्मण कुल में कई पीढ़ियों से वेद के पठन पाठन का सिलसिला चला आ रहा है उस कुल में उत्पन्न हुआ बालक वैदिक शिक्षा को मूलतः वंशपरंपरागत के नियमानुसार अपने पूर्वजों से ग्रहण करता है और यदि वातावरण भी अनुकूल मिले अर्थात् उसके लिए वेद को विधिपूर्वक पढ़ाने की व्यवस्था भी की जाय तो वह वेद के ज्ञान में सहज ही पारंगत हो सकेगा। इसी प्रकार क्षत्रिय कुल का बालक शस्त्रविद्या का ज्ञान सहज ही प्राप्त कर सकता है। देखा जाता है कि वैश्य कुलोत्पन्न बालक की

बड़े होने पर अल्प प्रयास से ही व्यवसाय में सहज गति प्राप्त हो जाती है। यूरोप, अमेरिका अथवा विश्व के किसी भूखंड में मानवसमाजकी जो व्यवस्था बनी हुई है वह मूलतः श्रमविभाग के सिद्वान्त पर खड़ी हुई है। समाज में अनेक वर्ग हैं और उनके अपने अपने कार्य हैं। सभी वर्गों के परस्पर सहयोग से समाज ठीक ठीक चलता है। आज शिक्षा के क्षेत्र में सर्वत्र जो विशेषज्ञ बनने की (Specialization) प्रवृत्ति देख पड़ती है उसके मूल में यही सनातन सत्य दीख पड़ता है।

अब मूलतः चार वर्णों के अन्तर्गत सहस्रों जातियाँ और उपजातियाँ बन गई हैं और आज अनेकानेक जातियाँ और उपजातियाँ देश में मौजूद हैं। वे समाज के विकास में बाधक सिद्ध हो रही हैं। इन जकड़बन्दियों से समाज का प्रवाह रुक सा गया है। और इनकी उपयोगिता नष्ट प्राय हो गई है। वैदिक किंवा गीता की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मूलतः सार्वदेशिक और सर्वकालीन रही है; किन्तु जिस रूप में आज वह हमारे देश में कायम है वह समाज के विकास क्रम में बाधक सिद्ध हो रही है। जिस रूप में वर्ण व्यवस्था थी और जो उसका उद्देश्य था वह प्रायः नष्ट सा ही हो गया। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की आत्मा तो निकल गई। उसका ढाँचा मात्र पड़ा हुआ है। आज तो समाज में वर्णव्यवस्था जन्मतः मानी जाने लगी है। यह हमारे समाज के ह्रास का एक मुख्य कारण भी हुआ है। जन्म से जो ब्राह्मण है वह न तो ब्राह्मण का काम कर रहा है और जो क्षत्रिय है वह अपना काम कर रहा है। संपूर्ण समाज वर्णसङ्कर सा हो गया है। ऐसी परिस्थिति में वर्णव्यवस्था का राग अलापना या उसके आधार पर समाज की रचना करना असफल प्रयास करना है।

इस विश्व में हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर श्रेष्ठ है। किसी भी यंत्र को लीजिये। उस यंत्र का प्रत्येक पुर्जा चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो उस यंत्र के चलाने में उसका उतना ही महत्त्वपूर्ण भाग है जितना किसी बड़े पुर्जे का। इसी प्रकार समाज में विभिन्न पेशे के लोगों का अपना अपना विशेष स्थान है। यदि देश के सभी नगरों के भंगी एक

साथ ही सब जगह हड़ताल कर दें तो सारे देश में गन्दगी से बीमारी फैल जायेगी। यदि किसान खेतों में अन्न उपजाना बन्द कर दें तो समाज के सभी वर्ग के प्राणी भूख से तड़प तड़प कर मर जायेंगे। यदि युद्धलिप्त राष्ट्रों में बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता नये नये अस्त्र शस्त्र का आविष्कार करना बन्द कर दें तो युद्ध में हार निश्चित हो जाय। और क्षात्र धर्म को प्रकट करने वाली सेना लड़ाई में हथियार रख दे तो राष्ट्र का अपना अस्तित्व ही मिट जायगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ प्रत्येक वर्ण का अपना अपना काम समान ही योग्यता का है। निष्काम भाव से अपना अपना नियत काम को करते हुए प्रत्येक वर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए पेशा बदलने की कोई ज़रूरत नहीं है। महाभारत में व्याध की कथा प्रसिद्ध है जिसने कसाई का पेशा करते हुए ही आत्मज्ञान प्राप्त किया था। पेशा चाहे कितना छोटा समाज की दृष्टि में क्यों न हो; किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह किसी क़दर छोटा नहीं है। वह उतने ही महत्त्व का है जितना समाज में समझा जाने वाला कोई अच्छा पेशा है। अध्यापन कार्य, लड़ाई का काम, खेती बारी और गोपालन का काम, बढ़ईगीरी, लुहारी, धोबी का काम, बुनाई, राज का काम यहाँ तक कि भंगी का काम सभी काम आध्यात्मिक दृष्टि से समान हैं। महत्त्व की बात तो यह है कि कोई काम किस दृष्टि से किया जाता है। कर्म का फल कर्त्ता की बुद्धि पर निर्भर है। मनुष्य की लघुता एवं उसका बड़प्पन उसके व्यवसाय पर निर्भर नहीं करता; बल्कि जिस बुद्धि से वह अपना व्यवसाय करता है उसी बुद्धि पर उसकी योग्यता अध्यात्म दृष्टि से अवलंबित रहती है। जिसका मन शान्त है, जिसने इस तत्त्व को भली प्रकार मज़बूती के साथ हृदयांकित कर लिया है कि सभी प्राणियों में एक ही आत्मा विराज रही है, जिसका राग द्वेष नष्ट हो गया है, ऐसे पुरुष की योग्यता चाहे वह भंगी का काम करता हो, या कसाई का काम करता हो, वेदपाठी ब्राह्मण या शूरवीर क्षत्रिय की अपेक्षा, आध्यात्मिक दृष्टि से किसी क़दर कम नहीं है; बल्कि वह पुरुष मोक्ष का

अधिकारी ब्राह्मण और क्षत्रिय के समान ही है। मध्ययुग में महाराष्ट्र और उत्तरी भारत में ऐसे बहुत से सन्त हो गए हैं जिनका जन्म नीच कुल में हुआ था और उनका पेशा समाज में हल्के दर्जे का समझा जाता था; किन्तु उन्होंने अपने सदाचार, निर्मल ज्ञान से आत्मज्ञान रूपी सिद्धि प्राप्त की। वे समाज में पारसमणि हुए जिनके सत्संग के स्पर्श से उच्च वर्णीय ब्राह्मण और क्षत्रिय भी तर गए। महाराष्ट्र में चोखामेला, नामदेव, और उत्तर भारत में संत शिरोमणि कबीर, रैदास, पलटू आदि संत छोटे कुल में जन्म लेकर उच्चकोटि के संत हो गए हैं। कबीर जुलाहे का काम करते थे। कपड़ा बुन कर और उसे अपने कंधे पर लाद कर काशी की गलियों में बेंचते फिरते थे; किन्तु उनका आत्मज्ञान उच्च कोटि का था। उनका पेशा उनके ज्ञान और सम्मान में किसी प्रकार बाधक नहीं था। रैदास चमार थे और जूता बनाने का काम करते थे; किन्तु उनका शील, संतोष और समत्व भाव आदर्श ब्राह्मण के समान था। अपने स्वधर्मानुसार प्राप्त कर्म का निष्काम बुद्धि से आचरण करना प्रत्येक मनुष्य के लिए उचित है। अपने नियत कर्म को सामाजिक दृष्टि से सदोष होने पर भी यदि उसके करने में कोई कठिनाई हो तो भी उसे न छोड़े; बल्कि निष्काम भाव से उसे करता जाय और उसमें कुशलता प्राप्त करे। इसी से उसे अंतिम सिद्धि प्राप्त होगी। गीता के चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा भागवत धर्म का यह सार तत्त्व है।

गीता ने जहाँ एक ओर आत्म ज्ञान का उपदेश किया है। क्षर, अक्षर, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, आत्मा; पुरुष प्रकृति का सूक्ष्म विवेचन करके ज्ञान की ज्योति जगाई है, अनन्यभाव से श्रद्धायुक्त होकर पूर्ण समर्पण भाव से भगवद् पूजन का विधान किया है और भक्ति की विमल और शीतल धारा बहाई है। वहाँ दूसरी ओर संपूर्ण मानव के विकास क्रम पर भी विचार किया है। प्रकृति में तीन गुण हैं (१) सात्विक, (२) राजसिक (३) तामसिक—सांख्य के इस मत को गीता स्वीकार करती है और वह यह भी मानती है कि चूंकि मानव प्रकृति सृष्टि के अन्तर्गत ही है। इसलिए मानव प्रकृति से उद्भूत श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है। मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है वैसे ही

उसके कर्म भी होते हैं। इसलिए मनुष्य के यज्ञ, तप, दान यहाँ तक कि उसके आहार भी तीन प्रकार के बतलाए गए हैं। सात्विक, राजसिक और तामसिक आहार। गीता का यह भी कथन है कि मनुष्य धीरे धीरे अपनी प्रकृति को शुद्ध करे। तम से रज में और रज से सत्व में प्रवेश करे। और अंत में आत्मनिष्ठ होकर सत से परे जाकर निस्त्रैगुण्य स्थिति को प्राप्त कर ले। गीता कहती है कि मनुष्य प्रकृति से बँधा हुआ अवश्य है; किन्तु पुरुषार्थ द्वारा वह प्रकृति के बन्धन को काट कर मुक्त भी हो सकता है।

गीता ने बड़े विस्तार के साथ १७वें अध्याय में त्रिविध आहार, यज्ञ, तप और दान का विचार किया है। आहार का जीवन में मुख्य स्थान है। कहा भी है कि जैसा अन्न वैसा मन। अन्न को ही ब्रह्म कहा है। 'अन्नं वै ब्रह्म'। अब यहाँ सात्विक, राजसिक और तामसिक आहार का पृथक पृथक विचार करेंगे।

सात्विक आहार—आयुः सत्वबलारोग्य सुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्याः आहाराः सात्विकप्रियाः। १७-८

आयु, सात्विकवृत्ति, बल, तन्दुरुस्ती, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले और मन को प्रसन्न करने वाले जो आहार हैं वे सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं। अर्थात् जो आहार सात्विक पुरुषों को प्रिय है वही आहार सात्विक है। इसमें दूध, घी, दही, फल तथा अन्य पौष्टिक पदार्थ आ जाते हैं।

राजसिक आहार—कट्वम्ल लवणात्युष्ण तीक्ष्ण रुक्ष विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामय प्रदाः॥ १७-९

कटु और चरपरे, खट्टे; खारे, बहुत गर्म, रूखे और कलेजे को जलाने वाले, दुःख और शोक पैदा करने वाले आहार राजसिक वृत्ति वाले पुरुषों को पसन्द हैं।

तामसिक आहार—यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम् १७-१०

बासी, नीरस, दुर्गन्धित, जूठा और अपवित्र भोजन तामसिक पुरुषों को रुचता है।

सात्विक मनुष्य को सात्विक, राजसिक को राजसिक और तामसिक पुरुष को तामसिक भोजन प्रिय लगता है। अन्न से ही मनुष्य जीवन धारण करते हैं। यदि आहार शुद्ध और सात्विक हो तो मनुष्य की वृत्ति भी क्रम से शुद्ध और सात्विक हो सकती है। उपनिषद में कहा है कि "आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धेः ध्रुवास्मृतिः स्मृतिर्लब्धे सर्व ग्रन्थिनाम् विप्रमोच्चयेत्।" छान्दोग्य ७-२६-२ अर्थात् आहार के शुद्ध होने से सत्व जीवन शुद्ध होता है, सत्व के शुद्ध होने से हृदय की सब गांठें (Complenes) खुल जाती हैं। सभी बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। मन की साम्यावस्था प्राप्त हो जाती है। योग की सिद्धि के लिए युक्त आहार (Balanced Diet) का भी विधान गीता में किया गया है। 'युक्ताहार विहारस्य युक्त कर्मस्यचेष्टसु' आहार मात्रा में ही ग्रहण करना उचित है। इसी को गीता में युक्त कहा है। न अधिक भोजन और न कम। जैसा कि गीता में कहा है कि:—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६.१६

यह योग न बहुत खाने वाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खाने वाले का तथा न अति शयन करने वाले का और न अत्यन्त जागने वाले का ही सिद्ध होता है। यदि अमृत भी मात्रा से अधिक खाया जाय तो वह ज़हर हो जायगा। मात्रा से कम खाने से भी शरीर क्षीण होता है। पाचन क्रिया बिगड़ती है। शरीर को जितने आहार की आवश्यकता हो उसकी नाप तोलकर उसी मात्रा में ग्रहण करना ठीक है। उसी से शरीर स्वस्थ और हल्का होता है।

चित्त की शुद्धि तथा मन को अनुशासन में रखने के लिए गीता में तप पर ज़ोर दिया गया है। तप के भी तीन भेद किये गये हैं (१) कायिक (२) वाचिक (३) मानसिक।

कायिकतप—देव द्विजगुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१७·१४

देवताओं, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, पवित्रता, सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीरिक तप कहते हैं।

वाचिंकतप—अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्।
स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१७-१५

मन को क्षुब्ध न करने वाले सत्य, प्रिय और हित करने वाली बातें, स्वाध्याय और स्वकर्त्तव्य के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं। सत्य बात वास्तव में कटु लगती है, उससे मन को तकलीफ भी पहुँचती है इसीलिए कहा गया है कि 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' अर्थात् सत्य बोले, किन्तु वह प्रिय भी हो। सत्य और अप्रिय बात न बोले तो अच्छा ही है। सत्य, प्रिय और हितकारी बात बोले। महाभारत में विदुर जी ने दुर्योधन से कहा है कि—"अप्रियस्य पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।" अर्थात् अप्रिय और हित की बात करनेवाले और उस बात को सुनने वाले संसार में दुर्लभ होते हैं। सत्य बात जो हितकर हो, और वह सुनने में कड़वी लगे तो उसे सुनने के लिए अधिकतर लोग तैयार नहीं होते हैं। इसलिए ऐसे ही लोगों के लिये सत्य और प्रिय बात कहने को कहा गया है।

मानसिक तप—मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१७-१६

मन को प्रसन्न रखना, सौम्य भाव धारण करना, मन को काबू में रख भावों को सदा शुद्ध रखना मानसिक तप कहलाता है। मौन का अर्थ सदा चुप रहना और कुछ भी नहीं बोलना—ऐसा नहीं लेना चाहिए। ऐसा करने से सामाजिक व्यवहार में कठिनाई भी पड़ेगी और आजन्म मौन रखना कुछ अस्वाभाविक और अनावश्यक भी प्रतीत होता है। आवश्यकतानुसार जितना बोलना आवश्यक हो उतना ही बोलना और अनावश्यक और अनर्गल बात मुँह से कभी नहीं निकालना ही सच्चा मौन है। यह कठिन भी है। इस प्रकार के मौन के लिए अधिक आत्मसंयम और साधना की आवश्यकता है।

तप का साधारण अर्थ तपाना या कष्ट देना होता है। इन्द्रियों पर क़ाबू करने के लिए कृच्छ तप का प्रचार हमारे देश में प्राचीन काल से चला

आ रहा है। जैसे—लंबे उपवास, उर्द्ध्वाहा—बांह ऊपर उठा कर खड़े रहना पंचाग्नि तापना जाड़े के दिनों में पानी में खड़े खड़े जप आदि करना और शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देना। बौद्ध धर्म के पूर्व भारत देश में कृच्छ्र तप का बड़ा जोर था। जैन धर्म में कृच्छ्र तप का बड़ा महत्त्व है। केशलुंचनादि कठोर तप की व्यवस्था इस धर्म में है। गीता का अर्थ शरीर को कष्ट देने के संकुचित अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है, बल्कि मनु जी ने तप का जो व्यापक अर्थ किया है (अर्थात् यज्ञ याग, वेदाध्ययन या चातुर्वण्य के अनुसार जिसका जो कर्तव्य हो उसे करना तप है) उसी अर्थ में गीता का तप आया है। किसी उच्च आदर्श के लिए जिसमें स्वार्थ की गंध न हो, रास्ते में जो कठिनाइयाँ आवें। कष्ट पड़ें उन्हें हँसते हँसते प्रसन्नता पूर्वक झेलना ही सच्चा तप है। तप तप के लिए नहीं करना है। शीतोष्ण द्वन्द्वों को सहना भी तप है। इससे शरीर में सहनशीलता बढ़ती है; किन्तु किसी उच्च आदर्श के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहे रास्ते में विपत्तियों का पहाड़ ही क्यों न खड़ा हो, उसे हिम्मत कर पार कर जाना और आदर्श की प्राप्ति करना—वास्तविक तप है। आगे तप के भी तीन भेद किए गए हैं:—(१) सात्विक (२) राजसिक (३) तामसिक।

सात्विक तप—श्रद्धया परयातप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥१७-१७

कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा छोड़कर उत्तम श्रद्धा से तथा योग युक्त बुद्धि से करे तो वे सात्विक तप कहलाते हैं।

तामसिकतप—सत्कार मान पूजार्थं तपोदंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१७-१८

जो तप अपने सत्कार, मान और पूजा के लिए अथवा दंभ से किया जाता है वह चंचल और अस्थिर तप शास्त्रों में राजसिक कहा गया है।

राजसिक तप—मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियतेतपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

मूढ़ आग्रह से, स्वयं कष्ट उठाकर, तथा दूसरों को सताने के हेतु जो

तप किया जाता है वह तामसिक तप कहलाता है।

इसी प्रकार यज्ञ और दान के भी तीन भेद किये गये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता ने अपने आत्म ज्ञान के उच्च आदर्श के पीछे व्यवहार-वाद को भुला नहीं दिया है; बल्कि उसकी विशद रूप से चर्चा कर आदर्श को व्यवहार में उतारने का आदेश किया है। आदर्श तो इसीलिए है कि उसे व्यावहारिक जीवन में उतारा जाय। कहा जाता है कि हम ज्यों ज्यों आदर्श की ओर बढ़ते हैं वह हमसे दूर होता जाता है। उस आदर्श को लेकर हम क्या करेंगे जिसे प्राप्त करने के लिए हम ज्यों ज्यों आगे बढ़ें त्यों त्यों वह दूर होता जाय। और हम कभी उसे प्राप्त न कर सकें। ऐसे आदर्श की प्राप्ति के लिए हमारे हृदय में उत्साह क्योंकर होगा जिसे हम कभी पा ही नहीं सकते। ऐसे आदर्श को दूर से ही नमस्कार करना ही बुद्धिमानी है। गीता मानव समाज के सामने स्थितप्रज्ञता का वह आदर्श रखती है जिसे मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में उतार सकता है। गीता में आदर्शवाद और व्यवहार-वाद का जो सुन्दर समन्वय हुआ है वह संसार के किसी अन्य धार्मिक ग्रन्थ में मुश्किल से मिलेगा।

सातवाँ अध्याय

उपसंहार

गीता के १८ वें अध्याय में गीता का उपसंहार किया गया है। श्री शंकराचार्य गीता में संन्यास मार्ग की प्रधानता बतलाते हैं; रामानुजाचार्य गीता में भक्ति की प्रधानता देखते हैं; किन्तु गीता के अध्यायों की संगति मिलाने तथा जिन विषम परिस्थिति में भगवान ने युद्धविरत् अर्जुन को ज्ञान विज्ञान का उपदेश कर उसे युद्ध के लिए तैयार किया, उसे देखते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीता में कर्मयोग ही प्रतिपादित है। गीता की मूल शिक्षा उपनिषद मूलक है। गीता की गंगोत्तरी तो उपनिषद ही है। वहीं से गीता रूपी गंगा की स्वच्छ धारा निस्सरित होकर आज २५०० वर्षों से मानव हृदय को ज्ञान और भक्ति के निर्मल जल से सींचते हुए मानव को सत्य और प्रकाश युक्त मार्ग पर लिए जा रही है।

गीता कर्म योग शास्त्र का मुख्य ग्रन्थ है। पहिले अध्याय में बतलाया गया है कि जब श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में दोनों सेनाओं के बीच में लाकर अर्जुन का रथ खड़ा किया तो अर्जुन ने लड़ाई में अपने से लड़ने के लिए आये हुए महारथियों की ओर दृष्टि दौड़ाई और उसने देखा कि भीष्म, गुरु द्रोण, दुर्योधन तथा कर्ण आदि अपने ही गुरुजन, बान्धव लड़ने के लिए खड़े हैं। उन्हें देखकर उसे मोह हुआ। उसकी बुद्धि अस्थिर होकर चकरा गई। क्या करना, क्या न करना, युद्ध करना या युद्ध से विरत् होकर भिक्षा वृत्ति से जीविका पैदा करना इन दोनों में कल्याणकर क्या है? यह प्रश्न विकट रूप से उसके सामने खड़ा होगया। अर्जुन की इस मानसिक भूमिका में भगवान ने उसके मोह को दूर करने के लिए उसे ज्ञान का उपदेश किया। आत्म ज्ञान का उपदेश इसलिए नहीं किया कि अर्जुन लड़ाई से मुँह मोड़-कर भगवा वस्त्र धारण कर, संन्यासी बन, सब कर्मों को छोड़कर मोक्ष की

साधना में लगे बल्कि आत्मज्ञान का उपदेश इसलिए किया कि उसकी रोशनी में वह अपने कर्त्तव्य-कर्म को भली प्रकार देखकर क्षत्रियोचित धर्म युद्ध में प्रवृत्त हो और श्रीकृष्ण के उपदेश का फल भी यही हुआ कि अर्जुन ने अदम्य उत्साह और वीरता से युद्ध किया और अन्त में उसने विजय भी प्राप्त की। गीता का उपदेश कर्म से विरत करने के लिए नहीं; बल्कि उत्साह-पूर्वक कर्म में प्रवृत्त कराने के लिए हुआ है। गीता कर्म करने को कहती है; किन्तु वह निष्कामभाव से फलाशा छोड़कर कर्त्तव्य कर्म करने का उपदेश करती है। मीमांसा के काम्य कर्मों का सर्वथा निषेध करती है। क्योंकि वे बन्धन में डालने वाले हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो मार्ग पुरातन काल से चले आ रहे हैं। गीता कर्मसंन्यास निवृत्ति का निषेध करती है क्योंकि उसकी राय में कर्म सर्वथा छोड़ा ही नहीं जा सकता। ऐसा करना मनुष्य के लिए अशक्य है। वह बिना कर्म के रह ही नहीं सकता। और जब वह कर्म करेगा ही तो यदि वह किसी कामना से या फल की आशा से कर्म करे तो वह कर्म बाँधने वाला होगा। गीता का लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है सब बन्धनों से छूट जाना। इसलिए गीता ने ऐसी युक्ति निकाली है कि कर्म भी होता रहे और मोक्ष की सिद्धि भी प्राप्त हो जाय।

वह युक्ति निष्काम कर्म अर्थात् फलाशा छोड़कर प्राप्त कर्म को करते रहने से ही प्राप्त हो सकती है। यही गीता धर्म का निचोड़ है, सारतत्त्व है। गीता के दूसरे ही अध्याय में भगवान ने अर्जुन को बतला दिया कि संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मार्ग मोक्ष देने वाले हैं, तथापि इनमें कर्म-योग मार्ग श्रेष्ठ है। तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में इसी सिद्धान्त का विस्तार अनेकानेक युक्तियोंसे किया गया है। अपने लिए नहीं तो लोकसंग्रह के लिए कर्म करने पर ज़ोर दिया गया है और निष्काम कर्म की योग्यता प्राप्त करने के लिए समत्व बुद्धि का होना आवश्यक बतलाया गया है। बुद्धि की इस समता को प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों का निग्रह करके यह जान लेना आवश्यक है कि एक ही परमात्मा सब प्राणियों में रमा हुआ है। इन्द्रिय निग्रह का विवेचन छठवें अध्याय में हुआ है। फिर ७वें अध्याय से लेकर १७वें

अध्याय तक में यह बतलाया गया है कि कर्मयोग का आचरण करते हुए परमेश्वर का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? उस ज्ञान का भी विचार किया गया है। ९वें से लेकर १२वें अध्याय तक में भगवान के व्यक्त और अव्ययक्त स्वरूप की चर्चा हुई है और व्यक्त से अव्यक्त की उपासना कठिन बतलाई गई है। ११वें अध्याय में भगवान ने जो अपना विराट स्वरूप दिखलाया है उससे यही सिद्धान्त निष्पन्न होता है कि एक ही अव्यक्तात्मा की अभिव्यक्ति विराट विश्व के रूप में हुई है। वही सब है। व्यक्त की उपासना सर्वसुलभ बतलाई गई है। १३वें अध्याय में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है। सर्व भूतों में जो अव्यक्त तत्त्व है वही मनुष्य के अन्दर अन्तरात्मा रूप से रहता है। क्षर को प्रकृति और अक्षर को पुरुष कहा गया है। जो इन दोनों को और इनके गुणों को ठीक टीक जानता है वह सर्वथा वर्तमान रहते हुए भी जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। चौदहवें अध्याय में उस ज्ञान का वर्णन है जिसमें ब्रह्मबीज से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति बतलाई गई है। प्रकृति से सत्व, रज और तम ये तीन गुण उत्पन्न हुए। इन गुणों के स्वरूप और इनके फल का वर्णन किया गया है। १५वें अध्याय में इस सृष्टि की उपमा अश्वत्थवृक्ष से दी गई है जिसकी जड़ ऊपर की ओर और शाखायें नीचे की ओर फैली हुई हैं। नीचे और ऊपर भी उसकी शाखायें फैली हुई हैं और ये शाखायें सत्व, रज और तम से बढ़ी हुई हैं, और जिनसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श रूपी विषयों के अंकुर फूटे हैं। और कर्म रूपी उसकी जड़ें बढ़ते बढ़ते बहुत गहरी चली गई हैं। अत्यन्त गहरी जड़ों वाले इस वृक्ष को अनासक्त रूपी दृढ़ तलवार से काट कर उस स्थान को ढूँढ़ निकालना चाहिए जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता। सोलहवें अध्याय में भगवान ने दैवी आसुरी संपदा का वर्णन किया है।

अभय, सात्विक वृत्ति, ज्ञान और कर्म की व्यवस्था, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, क्षमा, धृति आदि दैवी संपदा के के २६ लक्षण बतलाये गये हैं।

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य—ये आसुरी संपदा के लक्षण कहे

गये हैं। दैवी संपदा मोक्ष दायक और आसुरी संपदा बन्धन जनक है। इन दोनों संपदाओं को ज्ञान और अज्ञान नाम से अभिहित किया जा सकता है। इन शक्तियों का वर्णन विस्तार से किया गया है। सत्रहवें अध्याय में श्रद्धा, आहार, यज्ञ, दान तप आदि के तीन तीन भेदों—सात्विक, राजसिक और तामसिक का वर्णन विस्तार से किया गया है। अठारहवें अध्याय में संपूर्ण गीता का निचोड़ आ गया है। भगवान ने अर्जुन को यह उपदेश नहीं किया कि तू! संन्यासी हो जा; बल्कि भगवान ने फलाशा छोड़कर कर्म करने वाले को ही सच्चा संन्यासी कहा है न कि उस व्यक्ति को जिसने अग्नि कार्य आदि संपूर्ण कर्मों को छोड़ दिया है।

अर्जुन ने अठारहवें अध्याय के शुरू में ही यह जिज्ञासा की है कि हे भगवन !.मुझे संन्यास और त्याग का लक्षण विलग-विलग करके समझाइए, इस पर भगवान ने अर्जुन को संन्यास और त्याग का लक्षण बतलाया कि विद्वानों के मत में काम्य कर्मों का छोड़ना संन्यास और कर्म फल का त्याग ही सच्चा त्याग है। कुछ विद्वान संपूर्ण कर्मों को दोषयुक्त बतलाते हैं। इस-लिए उनके त्याग की बात करते हैं और दूसरे विद्वानों का यह कहना है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। भगवान इस विषय में अपना निर्णय सुनाते हैं। वे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों के लिए भी पवित्र करने वाले हैं। अतएव इन कर्मों को भी फलाशा त्याग कर करते रहना चाहिए। कर्म का दोष या बन्धन उस कर्म में नहीं है; बल्कि फला-सक्ति में है। इसलिए पिछले अध्यायों में जो अनेक बार यह कहा गया है कि फलाशा छोड़कर नियत कर्म को सदा करते रहना चाहिए उसका यह उप-संहार है।

ज्ञान भक्ति युक्त कर्म ही गीता का सार है। भगवद्गीता कर्मयोग-शास्त्र का प्रधान ग्रन्थ है। कर्मयोगशास्त्र में आचारशास्त्र या नीति-शास्त्र निहित है। पश्चिमी देश के विद्वानों की यह धारणा सर्वथा निमूल है कि भारतीय धर्म ग्रन्थों में आचारशास्त्र पर व्यापक प्रकाश नहीं डाला गया है। वास्तव में वैदिक धर्म किंवा बाद में इस भारत भूमि पर बौद्ध

और जैन धर्म आदि जितने भी धर्म उगे, पनपे और फैले उन सब में आचार पर विशेष ज़ोर दिया गया है। यहाँ आचार धर्म पर कुछ विस्तार से विचार करना अनुचित न होगा।

पाश्चात्य आधिभौतिक वादियों के मत में कर्म की नैतिक योग्यता अधिक से अधिक हित (Greatest good of the greatest number) पर अवलंबित है। भारतीय नीतिशास्त्र के पण्डितों के मत में सर्वभूतहितरत की भावना से प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है उसकी योग्यता नीति की दृष्टि से ऊँची समझी जाती है। वास्तव में किसी कर्म की नैतिक योग्यता उस कर्म के आकार प्रकार अथवा वाह्य स्वरूप पर निर्भर नहीं करती; बल्कि उसकी योग्यता इस बात पर निर्भर करती है कि उस कर्म के पीछे कर्त्ता का क्या हेतु है अथवा किस वृत्ति से वह काम किया गया है। साधारण व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य पागलपन या अनजान में कोई अपराध कर डालता है तो वह कानून की दृष्टि में क्षम्य समझा जाता है। इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि मनुष्य के कर्म, अकर्म उसकी भलाई और बुराई को ठहराने के लिए सबसे पहिले उसकी बुद्धि का ही विचार करना पड़ता है कि उस कर्म को किस उद्देश्य, बुद्धि, भाव और हेतु से किया गया है।

कर्म की योग्यता कर्त्ता की बुद्धि से ही निश्चित होनी चाहिए और यदि कर्त्ता की बुद्धि शुद्ध हो तो प्रायः छोटे छोटे कर्मों की नैतिक योग्यता भी बड़े बड़े कर्मों की योग्यता के बराबर हो जाती है ; बल्कि कभी-कभी उससे बढ़ भी जाती है। उदाहरण के तौर पर लीजिए। कोई धनी कराड़पति है। वह अपनी संपत्ति में से १० लाख रुपये का दान किसी लोकोपकारी काम में इसलिए देता है कि दान के फलस्वरूप उसकी कीर्ति समाज में फैले। वह यश की कामना से दान देता है। दूसरी ओर गरीब व्यक्ति है। उसने बड़े परिश्रम से पेट काट कर १००) बचाये हैं। वह उन सब रुपयों को विना किसी कामना के लोकहित के काम में इसलिए लगा देता है कि वह ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझता है। अब बताइये कि दोनों में किसका दान उच्च

कोटि का है ? बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि नैतिक योग्यता की दृष्टि से उस गरीब का १००) का दान अमीर के १० लाख रुपये के दान से कहीं श्रेष्ठ है। महाभारत में यही बात आख्यान के रूप में समझाई गई है। महाभारतयुद्ध के समाप्त होनें पर महाराज युधिष्ठिर जब सिंहासनारूढ़ हुए तो उन्होंने एक बड़ा अश्वमेधयज्ञ किया। अन्न, वस्त्र और द्रव्य के अपूर्व दान से उनकी बड़ी ख्याति बड़ी। इसी बीच में एक नेउला आया जिसका आधा मुँह सोने का था। वह युधिष्ठिर से कहने लगा कि तुम्हारी प्रसंशा व्यर्थ हो रही है, देखो, इसी कुरुक्षेत्र की भूमि पर एक सात्विक ब्राह्मण ने अतिथि यज्ञ किया था। तीन दिन तक भूखा रहने पर भी उसने अपना, अपनी पत्नी, अपने पुत्र, और पुत्रवधू के हिस्से का सत्तू स्वयं सकुटुम्ब भूखा रह कर भी अतिथि का सत्कार किया था। उस अतिथि ने जहाँ हाथ धोया था वहाँ कुछ जूठन गिर पड़ा था। उस जूठन पर लेटने से मेरा आधा मुँह और आधा शरीर सोने का हो गया और तुम्हारे यज्ञमंडप में लेटने से जिसकी दुनिया में इतनी शोहरत है मेरा आधा शरीर सोने का नहीं हो रहा है। इसलिए हे युधिष्ठिर, तुम्हारे इस यज्ञ में दिये गये महान दान से शुद्ध भाव से दिए गए उस ब्राह्मण के सत्तू का दान कहीं श्रेष्ठ है। ईसाई धर्मग्रन्थ में भी इसी तत्त्व को स्वीकार किया गया है। एक बार ईसामसीह उपासना के लिए गिरिजा मंदिर में गए हुए थे। वहाँ धर्म कार्य के लिए द्रव्य इकट्ठा होने लगा। एक बुढ़िया ने अपनी सारी कमाई अर्थात् दो पैसा दान में दे दिया। ईसामसीह के मुँह से सहसा यह उद्‌गार निकल पड़ा कि इस बुढ़िया ने सबसे अधिक दान दिया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि ईसामसीह को भी यह बात मान्य थी कि कर्म की योग्यता कर्त्ता की बुद्धि से ही निश्चित करनी चाहिए। कर्म छोटे हों, बड़े हों या बराबर हों उनमें नैतिक दृष्टि से जो भेद हो जाता है वह कर्त्ता के हेतु के कारण ही हुआ करता है। इस हेतु को ही उद्देश, वासना या बुद्धि कहते हैं। इसका कारण यह है कि बुद्धि शब्द का शास्त्रीय अर्थ व्यवसायात्मक इन्द्रिय है तो भी ज्ञान, वासना, उद्देश और हेतु सब बुद्धीन्द्रिय के व्यापार के फल हैं।

अतएव उनके लिए भी बुद्धि शब्द का सामान्यतः प्रयोग किया जाता है। मन और बुद्धि दोनों प्रकृति के विकार हैं। इसलिए उसके भी तीन भेद सात्विक, राजसिक और तामसिक हैं। गीता में शुद्ध बुद्धि वह है जो बुद्धि से भी परे रहने वाले नित्य आत्मा के स्वरूप को पहचाने और यह पहचान कर कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसी के अनुसार कार्य अकार्य का निर्णय करे। इस सात्विक बुद्धि का ही दूसरा नाम साम्यबुद्धि है। इसी को व्यवसायात्मिका बुद्धि भी कहते हैं। यह बुद्धि सर्वत्र समभाव से बर्तती है। इस बुद्धि के प्राप्त होने पर जो वस्तु जैसी है वह ठीक उसी रूप में दीख पड़ती है। इसी को निर्मल और दिव्य दृष्टि भी कह सकते हैं। एक बार जिस पुरुष का मन शुद्ध और निष्काम हो जाता है तो फिर ऐसे स्थितिप्रज्ञ पुरुष से पाप कर्म नहीं हो सकता। वह सब कुछ करता हुआ भी पाप और पुण्य से अलिप्त रहता है।

पाश्चात्य देश में आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों से नीतिशास्त्र का विचार किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करने वालों में कांट और ग्रीन प्रभृति विद्वान मुख्य हैं। कांट ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Theory of Ethics में व्यवसायात्मक और वासनात्मक बुद्धि का सूक्ष्म विचार कर यह सिद्धान्त निश्चित किया है। (१) किसी कर्म की नैतिक योग्यता इस बाह्य फल पर से नहीं ठहराई जानी चाहिए कि उस कर्म के द्वारा कितने मनुष्यों को सुख होगा; बल्कि उसकी योग्यता का निर्णय इस बात से करना चाहिए कि उस मनुष्य की वासना कहाँ तक शुद्ध है। (२) मनुष्य की इस बुद्धि को तभी शुद्ध और स्वतन्त्र समझना चाहिए जबकि वह इन्द्रिय सुखों से लिप्त न होकर सदा शुद्ध बुद्धि के निर्णय के अनुसार चलने लगे। (३) इस प्रकार इन्द्रिय निग्रह हो जाने पर जिसकी वासना शुद्ध हो गई हो उस पुरुष के लिए किसी नीति नियमादि के बन्धन की आवश्यकता नहीं रह जाती। ग्रीन ने मनुष्य के अन्दर एक स्वतन्त्र आत्मतत्त्व को स्वीकार किया है जिसमें यह उत्कट इच्छा हुआ करती है कि वह सब भूतों में अपने आत्मस्वरूप को देखे। इसी में मनुष्य का नित्य और शाश्वत सुख

है। विषय सुख क्षणिक है। गीता में इन्हीं सिद्धान्तों से मिलते जुलते कुछ ये सिद्धान्त स्थिर किए गए हैं :—(१) बाह्य कर्म की अपेक्षा कर्त्ता की बुद्धि श्रेष्ठ है। (२) व्यवसायात्मक बुद्धि आत्मनिष्ठ होकर जब सन्देहरहित और सम हो जाती है तब फिर वासनात्मक बुद्धि अपने आप ही शुद्ध हो जाती है। (३) इस रीति से जिसकी बुद्धि सम और स्थिर हो जाती है तो वह विधि निषेध के नियमों से परे हो जाता है। (४) समत्व बुद्धि से प्रेरित उसके आचरण सामान्य मनुष्यों के लिए पूज्य, आदर्श और अनुकरणीय होते हैं। (५) पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मतत्त्व भरा हुआ है। देहान्तर्गत आत्मा अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप को जानने के लिए उत्सुक रहा करती है और अपने स्वरूप को ठीक ठीक जान लेने पर सब प्राणियों में आत्मौपम्य दृष्टि ही संपूर्ण नीति और आचारशास्त्र की प्रवर्तिका है। जब मनुष्य सब भूतों में एक ही तत्व देखने लगता है तो उसका दृष्टिकोण व्यापक और विशाल हो जाता है। निष्काम भाव से दूसरों के हित में रत रहना उसका सहज स्वाभाविक धर्म हो जाता है। उसमें यह अहंकार भी नहीं रह जाता कि मैं परोपकार करता हूँ; बल्कि जिस प्रकार स्वांस अपने आप चला करती है उसी प्रकार उस मनुष्य के द्वारा परोपकार के कार्य अपने आप हुआ करते हैं। उसके लिए उसे प्रयास नहीं करना पड़ता।

संसार दुःखमय है। क्षणिक है। क्षणिक पदार्थ से शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए संसार का त्याग कर अपने अन्दर ही आत्मतत्त्व ढूँढ़कर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करे यही संन्यास मार्ग है। यह मत पहिले पहल उपनिषत्कारों तथा सांख्यवादियों द्वारा प्रचलित हुआ कि दुःखमय संसार तथा असार संसार को छोड़े बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसके पूर्व वैदिक धर्म कर्मकाण्डप्रधान धर्म था। बौद्ध और जैन संन्यासप्रधान धर्म हैं। भगवान् बुद्ध का धर्म चार आर्य सत्यों पर अवलंबित है। (१) संसार दुःखमय है। (२) दुःख का कारण वासना या इच्छा है। (३) वासना के क्षय से दुःख का नाश हो जाता है। (४)

वासना के क्षय के लिए अष्टांगिक मार्ग की साधना है। इस मार्ग में सम्यक् दर्शन, सम्यक् संकल्प, सम्यक् आजीव और सम्यक् समाधि आदि हैं। भगवान बुद्ध का उपदेश था कि गृहस्थ का परित्याग कर भिक्षु धर्म स्वीकार करने से ही मुक्ति मिल सकती है। बौद्धधर्म की शिक्षा का देश पर व्यापक प्रभाव पड़ा और लाखों व्यक्ति अपना घर द्वार छोड़कर भिक्षुसंघ में शामिल हो गये और यति धर्म से जीवन बिताते हुए निर्वाण साधना में संलग्न हुए। जैन धर्म में भी घर द्वार छोड़कर यति बनने का उपदेश है। ईसाई धर्म भी संन्यास प्रधान धर्म है। ईसामसीह स्वयं आजीवन अविवाहित रहे। ईसाई धर्म का भी चरम लक्ष्य मुक्ति ही है। और मुक्ति के लिये घर द्वार त्यागने का स्पष्ट उपदेश है। एक समय एक आदमी ने ईसामसीह से पूछा कि अभी तक मैं अपने माँ, बाप तथा पड़ोसियों के साथ प्रीतिपूर्वक व्यवहार करता हूँ। अब आप कृपा कर मुझे बताइये कि मुझे मुक्ति मिलने में क्या कसर है ? ईसामसीह ने जबाब दिया कि, तू अपना घर द्वार बेंच दे या किसी ग़रीब को दे मेरा भक्त बन जा और उसी समय अपने शिष्यों को संबोधित करते हुए यह प्रसिद्ध बात कही कि, "सुई की नोक में से ऊँट का निकल जाना आसान है, किन्तु किसी अमीर का ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना कठिन है।" ईसामसीह का यह उपदेश उपनिषद के इस उपदेश से कि, "अमृतत्वस्यतु नाशास्तिवित्तेन"। अर्थात् द्रव्य से अमृतत्व मिलने की आशा नहीं है, बहुत मिलता जुलता है। गीता सांसारिक कर्मों को छोड़ने को नहीं कहती; बल्कि निष्काम भाव से अपने कर्मों को करते हुए मुक्ति के लिए यत्नशील होने को कहती है। ईसामसीह संसार और ईश्वर में परस्पर विरोध देखते थे। इसलिए उनका यह कहना कि जो माँ, बाप, भाई, बहिन, सगे संबन्धी तथा अपने जीवन का भी मोह छोड़ कर मेरे साथ नहीं रहता वह मेरा भक्त नहीं हो सकता। ईसा के उपदेश से उनके शिष्य वैराग्य भाव से रहते थे। वर्तमान समय के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार भी मुक्ति के लिए संसार त्याग आवश्यक समझते हैं। विपरीत इसके गीता यह कहती है कि जब कर्म छूटते ही नहीं, बिना कर्म के मनुष्य एक क्षण रह ही नहीं सकता,

तो मनुष्य समाज में अधिकारानुसार कर्त्तव्य कर्म करता जाय; किन्तु कर्म के फल की आशा न करे। फल भगवान को अर्पित कर दे। गीता में आजीवन निष्काम भाव से नियत कर्म करने का आदेश है। गीता को चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मान्य है। उस समय समाज के संघटन में; चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की प्रधानता थी। ऐसी समाज व्यवस्था में जो प्रत्येक वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के जो कर्त्तव्य, गुण और स्वभाव के अनुसार निर्धारित कर दिये गये हैं उन्हें निष्कामभाव से आजीवन करते रहने का उपदेश गीता करती है। चूंकि उस समय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रचलित थी। इसलिए उसीको लक्ष्य कर गीता ने स्वधर्म पालन का उपदेश किया है। यह शिक्षा किसी भी समाज व्यवस्था पर लागू हो सकती है। कैसी भी समाज व्यवस्था हो, गुण कर्म के अनुसार ही लोगों के कर्त्तव्य निश्चित किये जायेंगे। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रारंभ में गुण कर्म के अनुसार बनी और तदनुसार भिन्न भिन्न वर्ण के लोगों के कर्त्तव्य निर्धारित हुए। कालान्तर में गुण कर्म की ओर ध्यान कम होता गया और जन्म पर ही ज़ोर दिया जाने लगा। आज तो भारतीय समाज में.. जन्म से ही वर्ण माना जाने लगा है। आज तो वर्ण व्यवस्था की आत्मा निकल गई है, केवल उसका थोथा कलेवर रह गया है। आज के समाज में चाहे वह प्राच्य समाज हो या पाश्चात्य समाज हो, गुण कर्मानुसार व्यक्ति के कर्त्तव्य निश्चित किये जा सकते हैं और अपनी प्रकृति और रुचि के अनुकूल जो सामाजिक कर्त्तव्य कर्म अपने ऊपर आ पड़े उसे निष्काम भाव से आजीवन करते रहना ही गीता की शिक्षा है।

गीता ने सांख्य के प्रकृति तत्त्व को स्वीकार किया है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। मनुष्य की प्रकृति भी तीन प्रकार की होती है। सात्विक, राजसिक और तामसिक। प्रकृति के जितने कार्य हैं उनके भी तीन भेद किये गये हैं। मनुष्य के आहार, तप, कर्म, त्याग, दान तथा उसकी बुद्धि और धृति सब के तीन भेद किये गाये हैं और गीता के १७वें औ १८वें अध्याय में बहुत विस्तार से और साफ़ साफ़ उनके लक्षण बतलाये गये हैं। मानव-जीवन और उसकी प्रकृति के भेद को देखते हुए ये भेद और उनके लक्षण बतलाये गये

हैं। ज्ञान, कर्म और कर्त्ता के तीन भेद बतलाये गये हैं। गीताकार का यह भी कहना है कि इस पृथिवी में, आकाश में अथवा देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो। अर्थात् सभी वस्तुयें इन तीन गुणों से युक्त हैं।

यद्यपि ब्रह्माण्ड में सभी प्राणी चाहे वह मानव हों या मानवेतर हों, एक ही लक्ष्य की ओर गति कर रहे हैं। वह लक्ष्य है आत्मतत्त्व में स्थित होना। मनुष्येतर प्राणी केवल इन्द्रिय सुख में ही डूबे रहते हैं। मनुष्य और पशु दोनों में आहार, निन्द्रा, भय और मैथुन सामान्य रूप से मौजूद रहते हैं। दोनों में भेद केवल यह है कि मनुष्य में धर्मतत्त्व विशेष है अर्थात् उसमें धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय करने की बुद्धि है जो पशु में नहीं है। इसलिए मनुष्य में प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होने की प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है। अधिकांश मनुष्य यद्यपि विषय सुख में ही डूबे रहते हैं; किन्तु उनमें कुछ जागरूक भी होते हैं जिन्हें यह भान होने लगता है कि विषयों में वास्तविक सुख नहीं है। उनके अन्दर निर्वेद अथवा वैराग्य का उदय होता है और वह अपने अन्दर सुख ढूंढने में प्रयत्नशील होते हैं। भगवान ने कहा है कि:—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अर्थात् हजारों मनुष्यों में कोई एक मोक्ष के लिये प्रयत्न करता है और सिद्धि के लिए उन प्रयत्न करने वालों में भी कोई कोई मनुष्य मेरे स्वरूप को भलीप्रकार जान पाते हैं। इस श्लोक में सिद्धि प्राप्त करने के लिए घोर संघर्ष की ओर संकेत किया गया है; किन्तु गीता संपूर्ण मानव के लिए आशा का संदेश लेकर अवतरित हुई है। भगवान स्वयं कहते हैं:—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक्ऽव्यवस्थितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शाश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अर्थात् यदि कोई बड़ा भारी दुराचारी हो; किन्तु मेरा अनन्य भाव से भजन करने वाला हो तो उसे साधु ही मानना चाहिये। क्योंकि निश्चय रूप से वह सम्यक. व्यवस्थित हो जाता है।

अर्थात् उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सदा रहनेवाली शान्ति को प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन! यह तुम निश्चय समझो कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। अर्थात् वह कभी जरा-मरण धर्म में नहीं बँधता।

गीता की प्रतिज्ञा है कि, "नहि कल्याणकृत कश्चितदुर्गतिं तात गच्छति"। हे प्यारे, कल्याण के रास्ते पर जिसने भी क़दम बढ़ाया उसकी अवगति हो ही नहीं सकती। गीता में स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापी सबके लिए महान आश्वासन का वचन है। तामसिक से राजसिक और राजसिक से सात्विक अवस्था में पहुँचने का विधान है। मनुष्य को तामसिक अवस्था से ऊपर उठ कर सात्विक अवस्था में पहुँचने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है। उसके लिए शास्त्रों में आचार धर्म का आदेश किया गया है। इन आचार धर्मों के पालन से मनुष्य की बुद्धि उत्तरोत्तर शुद्ध होती जाती है। निचली अवस्था में मनुष्य अपने शरीर को तथा अपने कुटुम्ब को ही सारा संसार समझता है उसका यह ज्ञान तामस ज्ञान कहलाता है। फिर वह कुछ ऊपर उठता है। अपने गाँव और देश को सारा संसार समझता है। वह मानव समाज को भिन्न भिन्न देशों में बँटा हुआ समझता है। यह विभक्त भाव ही राजसिक ज्ञान कहलाता है; किन्तु इससे भी वह आगे जाता है और देश जाति की सीमा को पार कर समस्त मानवों में ही नहीं; बल्कि समस्त प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व को देखता है। उसकी दृष्टि सम हो जाती है। यह ज्ञान सात्विक ज्ञान कहलाता है। यही प्राप्तव्य और यही ज्ञान की परम सीमा है। मनुष्य को यह ज्ञान करा देना ही गीता को अभीष्ट है। प्रकृति के तीनों गुणों और उनके कार्यों का विशद्रूप से विवेचन करते हुए उनके बन्धनों से मुक्त होकर निस्त्रैगुण्य स्थिति प्राप्त करने का मार्ग गीता बतलाती है।

मनुष्य चेतन प्राणी है। उसमें बुद्धि है। बुद्धि के होने से उसमें यह सहज इच्छा होती है कि हमारे सामने जो यह महान सृष्टि दिखलाई पड़ती है, वह वास्तव में क्या है? उसका रहस्य क्या है? वह किन किन तत्त्वों से बनी है! मैं कौन हूँ? मेरा इस वाह्यजगत के साथ क्या सम्बन्ध है? जीवन का परम साध्य क्या है? इन सब प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए मनुष्य उत्सुक हो उठता है। बुद्धि अपनी सीमित शक्ति से इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ती है। उत्तर मिलता है। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए बुद्धि को माँजने की, तीव्र करने की आवश्यकता है। बुद्धि जो मार्ग बतलाती है वही अध्यात्मशास्त्र में ज्ञान मार्ग कहलाता है। इस मार्ग की विशद चर्चा वेद, उपनिषद, सांख्य और वेदान्त के ग्रन्थों में की गई है। ज्ञान से अन्य तत्त्व को समझना तथा संसार के संपूर्ण कर्मों को छोड़ कर आत्मा के आनन्द में ही निमग्न रहना सांख्य परिभाषा में सांख्य निष्ठा या ज्ञान निष्ठा है।

मनुष्य में बुद्धि है; किन्तु उसमें हृदय भी है। हृदय की प्रधानता कम नहीं है। हृदय होने से वह भावमय है। उसके हृदय में भाव भरा हुआ है। उसमें प्रेम है। हृदय में संपूर्ण प्राणियों के साथ एकात्मता की अनुभूति के लिए ललक होती है। सृष्टि के वैचित्र्य को देखकर मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है। और सृष्टि के मूल तत्त्व की पूजा के लिए हृदय अपनी भक्ति-भावना को लेकर आगे बढ़ता है। भावों की शुद्धि तथा पूर्णता के लिए भक्ति-मार्ग संसार में प्रचलित हुआ। शास्त्रों में इस मार्ग को सुगम मार्ग कहा गया है; किन्तु यह मार्ग वैसा सुगम नहीं है जैसा कहा जाता है या दीख पड़ता है। इस मार्ग में भी अहंकार की आहुति देनी होती है। अहं को मिटाना पड़ता है। अपनी इच्छा को विश्वात्मा की इच्छा में मिला देना पड़ता है। इसमें संपूर्ण भेद भाव को मिटाना पड़ता है। इसके संबन्ध में कबीरदास जी कहते हैं कि, "भक्ति करै कोई शूरमा जाति वरण कुल खोय।" नारद ने शांडिल्य सूत्र में भक्ति की विवेचना की है। भक्ति भावना, पूज्य भावना मनुष्य में स्वाभाविक है। प्रत्येक धर्म में भक्ति की महिमा गाई गई है। भक्ति में पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव है। भक्त की तो यह भावना होती है कि:—

मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागे है मोर॥

मध्य युग में तो भारत भूमि सन्तों और भक्तों से भरी हुई थी।

बुद्धि और हृदय होते हुए भी मनुष्य में मन और इन्द्रियाँ हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ये इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। इनके द्वारा इस संसार में बराबर क्रिया होती रहती है। मनुष्य बिना कर्म के रह नहीं सकता। जीवन ही कर्म है। मनुष्य आत्मरक्षा और समाज की रक्षा के लिए बराबर कर्म करता रहता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और इन्द्रियाँ जो कर्म के साधन हैं—इसी प्रकृति के अंग हैं। इसीलिए इनके द्वारा जो कर्म होंगे त्रिगुणात्मक होंगे। त्रिगुण ही प्रकृति के बन्धन हैं। इसलिए संपूर्ण कर्म बन्धन जनक है और इन्हें छोड़ देने से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है—ऐसा संन्यासमार्गियों का तर्क है। गीता का इस पर यह कथन है कि बिना कर्म के मनुष्य एक क्षण रह नहीं सकता। मन और इन्द्रियों से कर्म होते ही रहेंगे तो कर्म ऐसे ढंग से, ऐसी युक्ति से क्यों न करें कि जिससे वह कर्म बाँधने वाला न होकर मोक्ष का साधन बन जाय। गीता ने निष्काम यानी फलासक्ति छोड़कर काम करने की युक्ति ढूंढ़ निकाली है। यही कर्मयोग का मार्ग है। गीता के पूर्व से ही यह मार्ग प्रचलित रहा है। गीता में कर्मयोग मार्ग की श्रेष्ठता को प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया गया है।

गीता ने सांख्य यानी ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की उपेक्षा नहीं की है; बल्कि अपने तत्त्व विचार योजना में उन्हें समुचित स्थान दिया है और उनका कर्मयोग के साथ मेल कर तीनों मार्गों—ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग में समन्वय स्थापित किया है। यही गीता का वैशिष्ट्य है। निष्काम कर्म करने के लिए शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है। और परिष्कृत हृदय की भी। मानव जीवन में ज्ञान, भक्ति और कर्म इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि उन्हें एक दूसरे से सर्वथा अलग करना कठिन है। बल्कि ये एक

दूसरे के पूरक हैं। इन तीनों का—बुद्धि, हृदय और कर्म का—जिनके जीवन में पूर्ण समन्वय साधित हुआ है उनका जीवन आदर्श जीवन कहा जा सकता है। ये तीनों मार्ग कोई सर्वथा अलग अलग नहीं हैं; बल्कि एक दूसरे से सटे हुए ही चलते हैं और अन्त में ब्रह्मसागर (भूमा) में मिल जाते हैं। हाँ, कुछ ज्ञानप्रधान प्राणी होते हैं, कुछ भावप्रधान और कुछ कर्मप्रधान होते हैं; किन्तु एक की प्रधानता होने से दो का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता। ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों की परिसमाप्ति ब्राह्मीस्थिति या स्थितिप्रज्ञता में होती है। यदि स्थितप्रज्ञता की अवस्था प्राप्त करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है तो चाहे कोई ज्ञान मार्ग से चले या भक्ति मार्ग से चले या कर्म मार्ग से चले तो वह एक ही स्थान पर पहुँचेगा। लक्ष्य की दृष्टि से तीनों साधन समान दर्जे के हैं। गीता इससे आगे जाती है। वह स्थितिप्रज्ञता की स्थिति को प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य तो समझती है; किन्तु स्थितप्रज्ञ हो जाने पर लोकसंग्रह के लिये नियत कर्म करते रहना अधिक श्रेयस्कर और श्रेष्ठ समझती है। गीता सिद्धि होने के पूर्व भी कर्म करने को कहती है; किन्तु फलासक्ति छोड़ कर निष्काम भाव से काम करने का उपदेश करती है। यह उपदेश मानव समाज के करोड़ों लोगों के लिए हैं। क्योंकि यदि समाज में सभी लोग अपना काम धन्धा छोड़ कर विरक्त हो ज्ञान प्राप्ति के लिए संन्यासी हो जायँ तो सृष्टिकार्य रुक जायेगा और यह संभव भी तो नहीं है। इसलिए बिना कर्म छोड़े हुए ही अपने अपने कर्मों को निष्काम भाव से करते रहने से सिद्धि की गारंटी गीता करती है। निष्काम कर्म करते करते पूर्ण निष्कामता की स्थिति आ जाती है। यही मानसिक स्थिति ही स्थितिप्रज्ञता की स्थिति है। गीता का यह मूल मंत्र समाज के करोड़ों लोगों के लिये है। सिद्धि हो जाने पर अपने आप में ही निमग्न रहने की अपेक्षा लोकसंग्रह के लिए बराबर कर्म करते रहने का उपदेश गीता करती है। इसीलिए गीता ने कर्मयोग मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। गीता कहती है कि:—

सक्ताः कर्मण्य विद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्यात् विद्वांस्तथा सक्तश्चीकीर्षुर्लोकसंग्रहः॥

अर्थात् जैसे अज्ञानी कर्म करते हुए उसमें लिप्त रहता है, चिपका रहता है, लगन से काम करता है वैसे ज्ञानी पुरुष अनासक्त भाव से कर्म में जुटा रहे।

निष्काम की स्थिति प्राप्त हो जाने पर मनुष्य का प्रत्येक कर्म ईश्वर पूजा है, उसका प्रत्येक विचार जगमंगल के लिए होता है। उसकी वाणी मधुर हो जाती है। उसके नेत्रों से प्रेमामृत झरता है। उसका आचरण लोगों के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय हो जाता है। इस स्थिति की प्राप्ति के पूर्व जीवन में घोर संघर्ष करना पड़ता है। जीवन में पदे पदे अपनी परिस्थितियों से लड़कर उस पर क़ाबू पाने के लिये भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए भगवान अर्जुन से कहते हैं कि 'मामनुस्मर युद्ध्य च'। मुझे स्मरण करो और युद्ध करो। अर्थात् फलासक्ति छोड़ कर जीवन संग्राम में बराबर लड़ते रहो। विजय अवश्य प्राप्त होगी। यही गीता दर्शन का लुब्बेलुबाब है।

गीता धर्म की विचारधारा सांप्रदायिक बाँधों को तोड़कर उन्मुक्त होकर बहती है। इस धर्म में सांप्रदायिकता की गंध नहीं। यह विशाल, व्यापक और गंभीर है। इसमें जाति, वर्ण, और लिंग का भेद भाव नहीं। यह सब के लिए है। सर्वकालीन और सार्वदेशिक है। संपूर्ण वैदिक और औपनिषदिक तत्त्वों को मथकर गीता ने निष्कामता रूपी नवनीत काढ़ निकाला है जिसके सेवन से दिव्य दृष्टि और दिव्य जीवन प्राप्त होता है और अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। अमृतत्त्व क्या है? मृत्यु के भय से पूर्णतया मुक्त हो जाना ही अमृतत्त्व की प्राप्ति है। गीता कल्पतरु है जिसकी शीतल छाया में आने से संपूर्ण दैहिक, दैविक और भौतिक ताप मिट जाते हैं। संपूर्ण कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। मनुष्य आत्मकाम हो धन्य हो जाता है। गीता वह अमर वेलि है जिसमें अमृत फल लगते हैं। आइये, हम सब इस बेलि को निष्कामता रूपी जल से सींच कर अमृत फल को चखें और अपना जीवन सुफल करें। हमारे मुँह से यही प्रार्थना निकले :—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भागभवेत् ॥

सभी सुखी होवें, सभी निष्पाप हों, सभी कल्याण ही देखें, किसी को कोई दुःख न हो।

इति शम्।

नैनी सेन्ट्रल जेल,
१८. १२. ४३।